विषय-सूची

★

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी का पुराना गद्य-साहित्य

आज के साहित्य मे गद्य की प्रधानता है। किन्तु पुराने साहित्य मे गद्य का ऐसा प्रचलन नही था। ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा मे गद्य का साहित्य मिल जाता है। परन्तु यह निश्चित कहा जा सकता है कि वह साहित्य का उतना प्रभावशाली वाहन कभी नही रहा जितना आज है। हिन्दी पुस्तकों की खोज मे चौदहवी शताब्दी का कहा जानेवाला एक गोरखपंथी गद्य ग्रन्थ मिला है, जिसे विद्वानों ने चौदहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का नमूना माना है। पर इसके समय के बारे में इधर सन्देह प्रकट किया जाने लगा है। इस पुस्तक की भाषा मे 'पूछिबा', 'कहिबा' जैसे प्रयोगों को देखकर स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने अनुमान किया था कि इसका लेखक राजस्थान का निवासी रहा होगा। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र श्री गोसाईं विट्ठलनाथ की एक ब्रजभाषा पुस्तक (शृंगार रस मण्डन) प्राप्त हुई है। जिसकी भाषा बहुत व्यवस्थित नही कही जा सकती। फिर इसी सम्प्रदाय के भक्तों ने कई 'वार्ताएँ' ब्रजभाषा मे लिखीं, जो ब्रजभाषा गद्य के उत्तम निदर्शन हैं। इनमे 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' अधिक प्रसिद्ध हैं। फिर कई पुस्तकों की टीकाएं ब्रजभाषा गद्य मे प्राप्त हुई है। इनके अतिरिक्त राजस्थानी गद्य मे 'ख्यात' और 'बात' नाम से कुछ गद्य कथानक प्राप्त हुए हैं। फिर संयोगवश कुछ सनदें, पत्र आदि मिल गए हैं, जो गद्य के कुछ नमूने प्रस्तुत करते हैं। मैथिली और बघेली भाषाओं के गद्य के नमूने भी

मिल जाते हैं, पर इन सबसे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कुछ गद्य लिखा अवश्य जाता था।

आजकल हम लोग जिस भाषा में लिखा-बोला करते हैं, उसे खड़ी बोली कहते हैं। कुछ विदेशी विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि अंग्रेजों के आने के बाद, उन्हीं की प्रेरणा से, हिन्दुओं ने इस भाषा में साहित्य लिखना शुरू किया। पर यह बात गलत है। खड़ी बोली का अस्तित्व बहुत पुराना है। अपभ्रंश की कविताओं में और उत्तर मध्यकाल के सन्तों की बानियों मे इस भाषा के नमूने मिल जाते है। मुगल दरबार की प्रतिष्ठा के साथ साथ दिल्ली के आसपास की भाषा शिष्ट भाषा हो गई। यही खड़ी बोली है। अकबर के समकालीन गंग कवि ने 'चंद-छंद बरनन की महिमा' नाम से एक गद्य ग्रंथ की रचना की थी। शुरू-शुरू मे मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य लिखे थे, परन्तु वे इसे 'हिन्दवी' भाषा ही कहते थे। शाह मीरानजी बीजापुरी (मृत्यु सन् १३४६ ई०), शाह बुरहन खानम (मृत्यु सन् १३८२ ई०) तथा सैयद मुहम्मद गैसूदराज (१३९८ ई०) के भी गद्य प्राप्त हुए हैं।

मुगल दरबार की समृद्धि जब ह्रास होने लगी और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद आदि मे नई नवाबी राजधानियाँ श्रीसम्पन्न होने लगीं, तो दिल्ली के गुणियों और व्यवसायियों ने पूरब की ओर मुंह किया। उनके साथ दिल्ली की शिष्ट भाषा भी सर्वत्र फैलने लगी। अठारहवीं शताब्दी मे निश्चित रूप से दिल्ली के शिष्ट समुदाय की भाषा चारों ओर फैल चुकी थी। यद्यपि उस समय साहित्य मे ब्रजभाषा का ही प्रचलन था, पर धार्मिक प्रचलनों के लिये इस दिल्ली वाली भाषा का भी प्रचलन होने लगा था। सन् १७४१ मे पटियाला दरबार के कथावाचक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वासिष्ठ'नामक ग्रंथ बहुत ही सुन्दर और परिमार्जित भाषा में लिखा था और इसके कुछ ही दिनों बाद सन् १७६१ ई० मे मध्यप्रदेश

के निवासी पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य के जैन पद्म पुराण का हिन्दी में अनुवाद किया था। इसकी भाषा रामप्रसाद की भाषा के समान व्यवस्थित और परिमार्जित न होने पर भी इस बात का प्रमाण तो है ही कि उन दिनों खड़ी बोली में सुन्दर हिन्दी गद्य लिखे जाते थे, इसी तरह की एकाध और पुस्तकें भी प्राप्त हुई हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी गद्य का साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, और कुछ और बाद तक भी कई पुस्तको की टीकाएँ ब्रजभाषा के गद्य में लिखी गईं। परन्तु खडी बोली मे लिखा जानेवाला गद्य ही अन्त तक साहित्य का महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बना। इन्हीं दिनों अंग्रेजों के प्रयत्न से कलकत्ते मे फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई और अंग्रेज अफसरों ने गंभीरतापूर्वक इस देश की भाषाओं के अध्ययन का प्रयत्न किया। इस कालेज के हिन्दी-उर्दू अध्यापक सर जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में पुस्तकें लिखाने का प्रयत्न किया। इन्होंने कई मुंशियों की नियुक्ति की। सर जान गिल क्राइस्ट प्रधान रूप में हिन्दुस्तानी या उर्दू के पक्षपाती थे, परन्तु वे जानते थे कि उस भाषा की आधारभूत भाषा हिन्दवी या हिन्दुई थी। इसी "आधारभूत भाषा' की जानकारी के लिए उन्होंने कुछ 'भाषा मुंशियों' की सहायता प्राप्त की। इनमें श्री लल्लूजी लाल और सदल मिश्र नामक दो पडितों ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। एक और भाषा-मुंशी श्री गंगाप्रसाद शुक्ल थे, जिनकी किसी रचना का पता नहीं चलता। कालेज की कार्यवाहियों में इनकी सहायता से बने एक कोश हिन्दी इंग्लिश डिक्शनरी का उल्लेख मिलता

है। इस प्रकार लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि फोर्ट विलियम कालेज मे ही हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। हमने ऊपर देखा है कि इस कालेज की स्थापना के बहुत पूर्व सुन्दर और व्यवस्थित गद्य लिखा जाने लगा था। जिन दिनों सर जान गिल क्राइस्ट लल्लूजी लाल और सदल मिश्र से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था कर रहे थे, उसके थोड़ा पूर्व दिल्ली-निवासी मुंशी सदासुख लालजी ने बहुत ही सुन्दर भाषा में भागवत की कथा का 'सुखसागर' नाम से भाषान्तर किया और लखनऊ के मुंशी इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नाम से एक ऐसी कथा लिखी थी, जिसमे अरबी, फारसी के शब्दों को हटाकर शुद्ध हिन्दी लिखने का प्रयास था। कालेज जिन दिनों नये साहित्य के निर्माण की ओर दत्तचित्त था, उन दिनों निश्चित रूप से खड़ी बोली शिष्ट जन के व्यवहार की भाषा हो चली थी। सुप्रसिद्ध राजा राममोहन राय के लिखे एक पैम्फलेट से पता चलता है कि यह भाषा उन दिनों शास्त्रार्थ विचार के लिये भी व्यवहार होने लगी थी। यह पैम्फलेट सन् १८१६ ई० मे छप कर प्रकाशित हुआ था। इसलिये यह समझना ठीक नहीं है कि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से ही आधुनिक हिन्दी गद्य का निर्माण हुआ। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी फोर्ट विलियम कालेज की कार्यवाहियों के विवरण के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे है कि कालेज की नीति हिन्दी के बहुत अनुकूल नहीं थी। सर जान गिल क्राइस्ट के बाद इस विभाग में प्राइस की नियुक्ति हुई थी। वे हिन्दी के अधिक अनुकूल थे; पर उनके कार्यकाल मे भी हिन्दी गद्य के निर्माण मे विशेष उन्नति नहीं हुई। वस्तुतः हिन्दी गद्य उन दिनों अपनी भीतरी प्राण-शक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा।

मुंशी सदासुखलालजी 'नियाज' दिल्ली-निवासी थे। ईस्ट इंडिया

कम्पनी की अधीनता में चुनार में एक अच्छे पद पर कार्य करते थे। ये उर्दू और फारसी के अच्छे लेखक और सुकवि थे। ६५ वर्ष की अवस्था में सन् १८११ ई० में नौकरी छोड़कर ये प्रयाग चले आए और वहीं भगवान् का भजन करने लगे। सन् १८२४ ई० में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी भाषा बहुत कुछ निखरी हुई और सुव्यवस्थित है। तत्काल प्रचलित पंडिताऊ प्रयोग इसमे मिल जाते हैं। परन्तु यह संस्कृतमिश्रित भाषा ही उन दिनों शिष्ट-जन-व्यवहृत भाषा थी, इसमें सन्देह नहीं। सुखसागर के अतिरिक्त एक और भी पुस्तक मुंशीजी ने लिखी थी, परन्तु उसका अधूरा रूप ही उपलब्ध हुआ है। सदासुख-लालजी की भाषा में सहज प्रवाह है, वह किसी के निर्देश पर और किसी खास प्रकार की भाषा के निर्माण के उद्देश्य से नहीं लिखी गई है, इसलिये उसमें स्वाभाविकता और स्पष्टता है, परन्तु मुंशी इंशा अल्ला खाँ की लिखी पुस्तक "उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी" मे यह सहज भाव नहीं है। मुंशी इंशा अल्ला खाँ का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था, जिसमें "हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट" न हो। वे "भाखापन" अर्थात् संस्कृत मिश्रित हिन्दी से भी बचना चाहते थे। फिर भी उनकी इच्छा थी कि "जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों-का-त्यों उसी का डौल रहे और छाँव किसी की न हो।" इस प्रकार उनके प्रयत्न में एक आयास था, उन्होंने भरसक संस्कृत से और अरबी-फारसी के शब्दों से भी बचने का प्रयत्न किया है। उनकी वाक्य-रचना मे उर्दू-फारसी शैली का प्रभाव है। एक प्रकार का यत्न-साधित भाव सर्वत्र है जिसके कारण भाषा में सहज प्रभाव नहीं आ पाया है। आगे चल कर यह भाषागत आदर्श मान्य नहीं हुआ। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज की सीमा के बाहर दो सुलेखकों ने स्वेच्छा से जिन गद्य शैलियों की नींव डाली, उसमे मुंशी सदासुख लालजी की शैली भविष्य मे अधिक ग्रहण योग्य सिद्ध हुई।

फोर्ट विलियम कालेज से संबद्ध लल्लूजी लाल ने भागवत के दशम स्कंध की कथा के आधार पर लिखे गए एक ब्रजभाषा काव्य के आधार पर प्रेमसागर नामक ग्रंथ लिखा, जिसकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव है। विदेशी भाषाओं के शब्द इसमें आ गए हैं, पर प्रयत्न उनसे बचने का ही है। इस ब्रजरंजित खड़ी बोली में भी वह सहज प्रवाह नहीं है, जो सदासुखलाल की भाषा में है। एक अंग्रेज अफसर ने जिसे प्रेमसागर पढ़कर हिन्दी सीखने का अवसर मिला था, इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि ऐसी 'थका देनी वाली भाषा' उसने कहीं नहीं देखी। परन्तु पं० सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवहारिक और सुघरी है। पंडित जी आरा (बिहार) के निवासी थे, इसीलिये स्वभावतः उनकी भाषा में पूरबी प्रयोग मिलते हैं। फिर भी उनकी भाषा मे अधिक प्रवाह है और वह परवर्ती साहित्य भाषा का अच्छा मार्ग-दर्शक कही जा सकती है। कालेज की कार्यवाहियों से पता लगता है कि सदल मिश्र ने एक और संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया था, पर उस पुस्तक के बारे मे कुछ पता नहीं चलता।

गद्य को प्रोत्साहन देनेवाली ऐतिहासिक शक्तियाँ

सन् १८४९ ई० में द्वितीय सिक्ख युद्ध हुआ और लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ मे आ गया। देशी राजाओं के राज्य या तो उनके हाथ से छिन गए या सम्पूर्ण रूप से अंग्रेजी प्रभुता के आधीन हो गए। इंगलैण्ड में और यूरोप के अन्यान्य देशों में नवीन वैज्ञानिक युग का आरम्भ हो गया था और वहाँ की जनता के विचारों में जबर्दस्त परिवर्त्तन हो रहे थे। जो अंग्रेज इस देश में शासन के लिये आए, उनमें कई बहुत बड़े मनस्वी और उदात्त विचारों के मनुष्य थे। उन्होंने इस देश में भी कुछ

सामाजिक सुधार करना चाहा। शुरू-शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति ईसाई धर्म के प्रचार के पक्ष मे नहीं थी। कम से कम राज-कर्मचारी प्रत्यक्ष रूप से धर्म-प्रचार के कार्य मे कोई सहयोग नहीं देते थे, लेकिन सन् १८१३ ई० में विलबरफोर्स ऐक्ट के पास हो जाने से ईसाई धर्म के अनुयायियों को अपने मत-प्रसार करने की आज्ञा मिल गई। इन लोगों ने बड़े उत्साह से काम शुरू किया। सन् १८३२ ई० तक श्रीरामपुर की मिशनरियों ने इस देश की चालीस भाषाओं में अपने धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किए। आधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक धीरे-धीरे ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे। बंगाल में इनकी बडी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और ब्राह्म धर्म की स्थापना हुई। इन दिनों देश के विभिन्न भागों मे ईसाई धर्म की प्रतिनिधि संस्थाएँ अलग-अलग काम करती रहीं, बाद मे इन्होंने सामूहिक रूप से ईसाई धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न किया। इन मिशनरी संस्थाओं ने नये ढंग के अनेक विद्यालय स्थापित किए और देशी भाषाओ मे नाना विषयों के पाठ्य-ग्रन्थ भी प्रस्तुत किए। इनके विद्यालयों मे बाइबिल का पठन अनिवार्य था। एक तरफ तो अंग्रेजों का देशी राज्यों पर अनुचित अधिकार और दूसरी ओर ईसाई धर्म का इस प्रकार सोत्साह प्रचार, इन दोनों बातों ने भारतीय जनता को सशंक कर दिया और शुभ बुद्धि से किये जाने वाले सुधारों के प्रति भी उनके चित्त में सन्देह उत्पन्न हो गया। इसका विस्फोट सन् १८५७ के विद्रोह के रूप में हुआ। इस विद्रोह की प्रेरणा किसी बड़े लक्ष्य से नहीं मिली थी और इसीलिए इस विद्रोह का परिणाम भी किसी बड़े फल के रूप मे नहीं प्रकट हुआ। वह केवल भारतीय जनता के मानसिक विक्षोभ को प्रकट करके समाप्त हो गया। जिन दिनों यह विक्षोभ देश की जनता के चित्त में भीतर ही भीतर पक रहा था उन्हीं दिनों भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ। यह केवल राजनैतिक संघर्ष का काल नहीं था, केवल सामाजिक शक्तियों के एक दूसरे से टकराने का समय नहीं था, बल्कि

एक सम्पूर्ण नवीन युग के जन्म लेने का समय था। यहाँ से हमारा साहित्य नये मोड़ पर आकर खड़ा हो गया। प्राचीन भारतीय संस्कार बिल्कुल नयी दिशा मे मुँह करके खड़े हो गए और जीवन के प्रति एकदम नवीन दृष्टिकोण की सम्भावना उत्पन्न हुई। यह एक विचित्र संयोग है कि इसी नवीन उन्मेष के समय भारतेन्दु का जन्म हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि अपने भावी युग की समस्त विशेषताओं को लेकर ही वे उत्पन्न हुए थे।

वैज्ञानिक मनोभाव इङ्गलैण्ड मे जड़ जमाता जा रहा था और उसकी लहर भारतवर्ष के वायुमण्डल को भी तरंगित कर रही थी। सन् १८६९ में स्वेज नहर के खुल जाने से इंगलैण्ड और भारत की भौगोलिक दूरी कम हो गई और लगभग इन्हीं वर्षो में आधुनिक ढंग से अंग्रेजी शिक्षा का द्वार खुल जाने से दोनों देशों की मानसिक दूरी भी कम होने लगी। कम्पनी की सरकार ने सन् १८४४ ई० के बाद से रेल, डाक और सड़कों की व्यवस्था शुरू कर दी थी। सन् १८५६ ई० तक देश के दूर-दूर के भाग रेल और तार से सम्बद्ध हो गये। रेल तो १८५७ के विद्रोह का एक प्रमुख कारण थी और तार उस विद्रोह को दबाने का सफल अस्त्र सबित हुआ। अंग्रेज जैसी जीवित जाति के सम्पर्क में आने से देश के चित्त में आलोड़न शुरू हुआ और सन् १८५७ के विद्रोह के बाद जब शासन-भार कम्पनी के हाथ से निकल कर इंगलैण्ड की रानी के हाथ में आ गया तो देश के शान्त वातावरण में विचारशील लोगों को अंग्रेज जाति के गुण समझने का अवसर मिला। प्रधान रूप से इसी समय अपनी कुरीतियों की ओर भी ध्यान गया। ईसाई धर्म के प्रचारकों ने भी हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना की थी और सच पूछा जाय तो इन पादरियों ने सती-दाह जैसी अनेक अमानुषिक प्रथाओं का सफल विरोध किया और उन्हें हमेशा के लिए बन्द करा दिया।

प्रेस और प्रचार कार्य

इन दिनों भारत में जिस अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु का प्रचार हुआ वह प्रेस था। इन दिनों नये-नये समाचार पत्र निकले और धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन को अग्रसर करने वाली अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सन् १८२६ ई० में हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र "उदन्त मार्तण्ड" प्रकाशित हुआ, जिसकी भाषा मे अवधी और ब्रजभाषा की छाया थी। परन्तु भाषा अब निखरने लगी थी। सन् १८२६ ई० मे ब्राह्मधर्म की स्थापना हुई थी, पर उसका प्रभाव बंगाल तक ही सीमित रहा। सामाजिक और धार्मिक विचारों की दुनियाँ मे क्रान्ति ले आने वाली सब से महत्वपूर्ण संस्था की स्थापना १८७५ ई० मे हुई। इस संस्था का नाम है आर्य-समाज। आर्य-समाज ने एक ही साथ अनेक मोर्चो पर धावा बोल दिया। इस संस्था ने अपने महान् संस्थापक दयानन्द के नेतृत्व में रूढ़िवादी सनातनियों से, हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयों से और देश मे फैले हुए अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से एक साथ ही लोहा लिया। इन दिनों शास्त्रार्थो की धूम मच गई। उत्तर-प्रत्युत्तर से व्यंगों और कटाक्षों से सामयिक पत्र भरे रहते थे और हिन्दी का भावी गद्य नवीन शक्तियों से सुसज्जित हो रहा था। इन वाद-विवादों ने भाषा को बहुत समृद्ध किया और प्रौढता प्रदान करने मे बडी सहायता पहुँचायी। प्रथम यूरोपियन महायुद्ध तक इस देश की सब से बड़ी शक्ति इन सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के रूप मे प्रकट हुई। यह बहुत बड़ी शक्ति थी। इसने शिक्षा को, साहित्य को और समूची संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया।

राष्ट्रीयता और देशभक्ति का प्रवेश

उन्नीसवीं शताब्दी मे एक और शक्तिशाली विश्वास का प्रवेश इस देश में हुआ था। यद्यपि उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भिक काल

में हिन्दी में नवीन गद्यशैली की नींव पड़ चुकी थी, परन्तु उसमें नई प्राणशक्ति नहीं आई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में इस देश के विचारशील लोग उस नवीन प्राणशक्ति का संधान पाने लगे थे। राजा राममोहन राय जैसे मनीषियों न इसे समझ लिया था, पर हिंदी-भाषी प्रदेशों मे यह देर से आई। यह नई प्राणशक्ति देशभक्ति थी। उन्नीसवीं शताब्दी मे जिस अंग्रेज जाति से भारतवर्ष का संबंध हुआ, वह राष्ट्रीयता या नेशनलिज्म के नवीन आदर्श से अनुप्राणित थी। यह विश्वास भारतवर्ष मे एकदम अपरिचित था। अंग्रेजों के आगमन से और नये वैज्ञानिक साधनों के प्रवेश से साहित्य मे नई हलचल तो आई पर तब तक इस हलचल मे क्रियात्मक वेग नही आ सका जब तक इस नवीन विश्वास का ठीक स्वरूप इस देश के विचारशील लोगों ने नहीं समझ लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने दो विभिन्न शैलियो मे गद्य लिखने का प्रयत्न किया। इन दोनो ही महानुभावों को नई भावधारा का परिचय प्राप्त हो गया था, फिर भी उसके साहित्य मे वह खुलकर प्रकट नहीं हुई।

राष्ट्रीयता एक प्रकार का विश्वास है जिसका भावात्मक रूप देशभक्ति है। इस विश्वास के अनुसार किसी देश या राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति उस राष्ट्र का अंग है और उस राष्ट्र की सेवा के लिये, उसको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिये, उसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये, प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करना चाहिए। यह राष्ट्रीयता एक सीमा तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों के अनुकूल थी, लेकिन सीमा-व्यतिक्रम करने के बाद इसका एक अत्यन्त कुत्सित रूप सामने आता है। वह यह है कि अपने देश को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है। अपने देश के प्रासाद सँवारने के लिये दूसरे देश की झोपड़ियाँ जलाई जा सकती हैं। राष्ट्रीयता ने उन्नीसवीं शताब्दी मे यह विकृत रूप धारण कर लिया था। शुरू-शुरू में भारतवासियों को

प्रजातन्त्रवाद के साथ हुआ राष्ट्रवाद का यह रूप स्पष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वे इससे एकदम अपरिचित थे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पढ़े-लिखे भारतीय बात को समझने लगे। धीरे-धीरे काव्यों मे, नाटकों मे, उपन्यासो मे और अन्यान्य रचनाओं में भारतवर्ष की पराधीनता और उसका शोषण इस प्रकार प्रकट होने लगा कि उनमें लेखकों के हृदय की व्यथा बड़ी व्याकुलता के साथ प्रकट होने लगी। भारतवासियों में भी अपने देश के प्रति प्रेम का भाव जाग्रत हुआ और स्वाभिमान की मात्रा बढ़ती गई। देशभक्ति, परोपकार भावना, मातृभाषा के प्रति प्रेम, समाज-सुधार और पराधीनता के प्रबन्ध से मुक्ति, उन दिनों की प्रगतिशील मनोवृत्ति के चिह्न हैं। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में वह आर्य-समाज के रूप में प्रकट हो चुकी थी। काव्य और साहित्य के क्षेत्र में उसे भारतेन्दु ऐसा सुयोग्य नेता मिला। भारतेन्दु के पहले ही कविता में इसके बीज दिखाई देने लगे थे। भारतेन्दु के आने के बाद से तो इस दिशा मे बहुत तेजी से प्रगति हुई। इस प्रगति का कारण भारतेन्दु का अद्भुत व्यक्तित्व था। उनमें अनन्य-साधारण गुण थे। अकृत्रिम सहृदयता, निरन्तर जागरूक दानशीलता और निश्छल सहज भाव ने उन्हे अपने युग का श्रेष्ठ साहित्यिक नेता बना दिया। उन दिनों के प्राय: सभी श्रेष्ठ साहित्यकार भारतेन्दु को केन्द्र बनाकर क्रियाशील हुए।

भारतेन्दु की विशेषता

भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य सन्तों की कुटिया से निकल कर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुंच गया था, उसमें मनुष्य को प्रात्यहिक सुख-सुविधाओं के जंजाल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक मे ले जाने की महत्त्वाकांक्षा लुप्त हो चुकी थी। भक्ति के क्षेत्र में उसमें साम्प्रदायिकता आ गई थी और साधारण काव्य के क्षेत्र मे

दरबारीपन ; भारतेन्दु ने कविता को इन दोनों ही प्रकार की अधोगतियों से उबारा। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकाल कर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया। भारतेन्दु के कई प्रसिद्ध नाटक यद्यपि संस्कृत या अन्य भाषाओं के भाषान्तर हैं, फिर भी वे एक बड़े भारी परिवर्त्तन का संकेत करते हैं। रीति-काल में नाटक का लिखा जाना एकदम बन्द हो गया था। जीवन में नाटकोचित गति ही लुप्त हो गई थी। सब कुछ बँधे बँधाये मार्ग में चल रहा था। चलना-फिरना, हिलना-डुलना, रोना-हँसना सब की पक्की सड़क तैयार थी। कहीं कोई नवीनता आ जाय, तो उसे अपराध माना जाता था। भारतेन्दु ने इस बात को बड़ी सावधानी से तोड़ा। उन्होंने क्रान्तिकारी हथौड़े से काम नहीं लिया। उन्होंने मृदु संशोधक निपुण वैद्य की भाँति रोगी की नाजुक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की। वह उनकी अपनी विशेषता थी। भारतेन्दु की भाषा व्यवस्थित और स्पष्ट है। उसमें भावों के अनुकूल बन जाने की अद्भुत शक्ति है। जहाँ भावावेग प्रबल होता है वहाँ उनके वाक्य छोटे-छोटे हो जाते हैं और उनमें यथाप्रयोजन अरबी, फारसी के शब्द भी आ जाते हैं; परन्तु जहाँ किसी बड़े हार्दिक संघर्ष को व्यक्त करना होता है, वहाँ वाक्य कुछ लम्बे और वक्र हो जाते हैं। जब भारतेन्दु तत्व-निरूपण करते हैं, तो उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का अधिक समावेश होता है। इस प्रकार भारतेन्दु की भाषा में भावानुरूपता और प्रवाह बराबर बना रहता है। उनके नाटकों में प्रथम दो श्रेणी की भाषा है और निबंधों मे तीसरी श्रेणी की। कहीं-कहीं उसमे पूर्वी प्रयोग भी हैं, पर है वह सर्वत्र सहज। उनका समूचा काव्य मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है। इस जीवन धारा ने ही उनकी समस्त रचनाओं को उपादेय और नवयुग का मार्ग खोलनेवाला बना दिया है। वे केवल बँधी रूढ़ियों के कायल नहीं थे।

भारतेन्दु मण्डली

भारतेन्दु की सफलता का प्रधान रहस्य यह जीवन्त प्राणधारा ही है। उनकी सफलता का दूसरा रहस्य है, उनकी अपूर्व दानशीलता। दानशीलता से मतलब रुपया-पैसा लुटाने से नहीं है। भारतेन्दु ने रुपया-पैसा भी काफी लुटाया था। लेकिन यहाँ दूसरी बात की ओर इशारा किया जाता है। लुटाने से अभिप्राय है, अपना सर्वोत्तम लुटाना। दाता का प्रधान लक्षण है कि उसके इर्द-गिर्द ग्रहीता स्वयं जुटते है और विशेषता यह है कि स्वयं आकृष्ट ग्रहीता आगे चलकर महादानी बन जाते है। दातृत्वशक्ति शायद संक्रामक रोग है। जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण रस को निःशेष भाव से दे देता है, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते है, जो अपनी सम्पूर्ण सत्ता को हँसते-हँसते लुटा देने मे आनन्द पाते हैं। भारतेन्दु की अपूर्व दातृत्व शक्ति ने उनके इर्द-गिर्द महान् साहित्यकारो को खीच लिया था। इस महान् सूर्य को घेरकर अनेक देदीप्यमान ग्रहमण्डली उपस्थित हो गई थी।

इस मण्डली मे कई अपूर्व प्रतिभाशाली लेखक थे। सहज-चटुल शैली के पुरस्कर्त्ता पं० प्रतापनारायण मिश्र, चरपरी तीखी भाषा में खरी खरी सुनाने वाले प० बालकृष्ण भट्ट, अनुप्रास-युक्त काव्य शैली के लेखक ठाकुर जगमोहन सिंह और बदरीनारायण चौधरी, शास्त्रीय विचार के धनी पं० अम्बिकाप्रसाद व्यास और अपने अगाध पाडित्य की छाया में सहज ठेठ शैली के पुरस्कर्ता महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी जैसे गुणी लेखकों ने इस काल के साहित्य को अपूर्व गरिमा से समृद्ध बना दिया। भारतेन्दु-काल के लेखकों की विशेषता बताते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "हरिश्चन्द्र काल के सब लेखकों मे अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। वे संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार करते थे, जो शिष्ट समाज मे बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित

होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़ कर ही करते थे।" इन कवियों और साहित्यकारों ने हमारी भाषा को अपने हृदय का सम्पूर्ण रस उँडेलकर दे दिया। भाषा बद्ध अवस्था से मुक्त हो गई। जीवन के प्रभाव की अवरोधक-शक्ति का हट जाना ही पर्याप्त है, जीवन आगे का रास्ता स्वयं बना लेता है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अपने आपको देखकर उस बाधा को दूर कर दिया। काव्य, नाटक, उपन्यास और निबन्ध अपने आपको प्राण-शक्ति से ही आगे बढ़ने लगे।

द्विवेदी काल के लेखक

शुरू शुरू में यह गति कुछ शिथिल और मन्द रही, बाद में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे इसकी गति मे बड़ी तीव्रता आ गई। इसी समय एक और शक्तिशाली महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसने भाषा मे नई शक्ति संचारित कर दी। वह थे, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी बड़े योग्य और कर्मठ व्यक्ति थे। उन्होंने भाषा को समृद्ध और गतिशील बनाने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनकी यह अद्भुत दानशीलता ही उनकी शक्ति का वास्तविक स्रोत है। द्विवेदीजी (१८७०-१९३८) ने सन् १९०३ मे प्रसिद्ध मासिक पत्रिका "सरस्वती" का सम्पादन आरम्भ किया। इन्होंने भाषा के संशोधन पर अधिक दृष्टि दी। लेखन का आदर्श उनके मत से यह था कि कठिन बात को सरल भाषा में लिख दिया जाय। 'सरस्वती' ने अनेक लेखकों को उत्पन्न किया। द्विवेदीजी संस्कृत के विद्वान् थे और कई आधुनिक भाषाओं के भी जानकार थे। अपने दृढ़ निश्चय, कठोर कर्त्तव्य-बोध और सहज गुणलुब्धता के कारण वे तत्कालीन साहित्य नेता बन गए। उन दिनों कुछ और भी गंभीर विद्वान् हुए जिन्होंने नाना भाव से हिन्दी गद्य-साहित्य को समृद्ध किया। निबंध लेखकों और साहित्य आलोचकों

मे पं० माधव प्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबंधु, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी आदि ने साहित्य को नाना भाव से समृद्ध किया। इन्हीं दिनों उपन्यास और कथा-कहानी का साहित्य भी खूब समृद्ध होने लगा। पहले बंगला से अनुवाद की धूम मची, फिर धीरे-धीरे मौलिक भाव से लिखने वाले भी इस क्षेत्र मे आने लगे।

नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन

भारतवर्ष मे नवीन राष्ट्रीय गौरव-बोध का जन्म हो चुका था। देशभक्ति ने निश्चित रूप से अन्य भावावेगों पर कब्जा कर लिया। नये-नये पुरातत्व के आविष्कार एक तरफ देशवासियों मे आत्मगौरव का संचार कर रहे थे और दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं नया जोश भर जाती थीं। फलतः प्रथम यूरोप महायुद्ध के बाद देश मे राजनैतिक असंतोष की मात्रा बड़े तीव्र रूप से प्रगट हुई और युद्ध-समाप्ति के दो-तीन वर्षों के बाद ही वह विराट आन्दोलन शुरू हुआ, जिसने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला दिया। इस आन्दोलन के नेता महात्मा-गान्धी थे। महात्मा गान्धी सच्चे अर्थ मे धार्मिक पुरुष थे और उन्होंने भारतीय राजनीति को ऐसी बडी नैतिक भूमिका पर खडा किया कि वह धार्मिकता की अविरोधिनी शक्ति के रूप में प्रकट हुई। उन्होंने जीवन को देखने की बिलकुल नई दृष्टि दी। सचाई, सादगी, सहज भाव और सर्वमानव-प्रेम उनके अस्त्र थे। महात्मा गान्धी के आन्दोलन ने देश का नैतिकस्तर बहुत ऊँचा कर दिया। उसने हमारे साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। साहित्य केवल सामाजिक सुधार की दृष्टि को लेकर नही, मानवता के प्रेम को लेकर अग्रसर हुआ। इसी समय विदेशी शिक्षा के बहुत प्रचार के कारण तथा देश में उन्मुक्त दृष्टि की प्रतिष्ठा के कारण वैयक्तकतावादी समर्थ साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने एक ओर तो परिपाटी-विहित रसिकता को चुनौती

दी और मानवीय प्रेम को अपना आदर्श बनाया। किन्तु भारतवर्ष की राजनैतिक चेतना तीव्रतर होती गई, विदेशी शासकों के साथ संघर्ष दिन दिन उग्र होता गया और अन्त मे सन् १९४८ ई० मे अर्थात् सिपाही-विद्रोह के ९० वर्ष बाद भारतवर्ष पूर्ण रूप से स्वाधीन हुआ। इस बीच संसार की दूसरी बड़ी लड़ाई हो गई और स्वाधीनता के मूल्यस्वरूप भारतवर्ष दो टुकडों मे विभक्त हो गया। इन तीस वर्षो का इतिहास संघर्षो का इतिहास है, नवीन दृष्टिकोण के बनाने का इतिहास है और पुराने संस्कारो के झड़ने का इतिहास है। जब लोक-जीवन मे बाहर और भीतर इतना संघर्ष चल रहा हो तब साहित्य मे नवीन रूप का, नवीन उद्भावनाओ का और नवीन अर्थो का जन्म होना ही स्वाभाविक है। और हुआ भी ऐसा ही है।

तीन समर्थ लेखक

इस काल मे अनेक प्रभावशाली लेखक और पत्रकार हुए। जिनमे तीन की चर्चा यहाँ अत्यन्त आवश्यक है—

(१) पं० रामचन्द्र शुक्ल की सर्वोत्तम कृतियाँ इसी काल की रचना हैं। अलंकार-शास्त्र के प्रत्येक अंग पर उन्होंने सूक्ष्म विचार किया था—शब्द शक्ति, गुण-दोष, अलंकार-विधान, रस आदि सभी विषयो पर उनका अपना सुचिन्तित मत था। वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकों को खूब समझते थे। पर उनका अन्धानुकरण करने वाले नहीं थे। रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं, वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका "अपना" मत सोलह आने अपना है, वे तनकर कहते हैं—"मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवा नहीं।"

फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते थे और नवीन की गुलामी तो एकदम असह्य थी।

(२) प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य की प्रौढ़ता के सबूत हैं। उन्होंने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया। वे ईमानदारी के साथ अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने अपनी आँखों समाज को देखा था। वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। उनकी भाषा में सहज प्रभाव है और उसके विशेषण में सचाई। सरलता और सचाई को वे मनुष्य का सबसे बड़ा गुण समझते थे और दिखावे टीमटाम को भारी दोष। उन्होंने बड़ी ईमानदारी और गहराई के साथ अपना विशेष दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

(३) 'प्रसाद' ने यद्यपि प्राचीन गौरव का अध्ययन और मनन बहुत अधिक किया था, परन्तु उन्होंने अपने समस्त अध्ययन को मनुष्य की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। अध्ययन, अध्ययन के लिए नहीं है, मनुष्य के उद्धार और उन्नयन के लिए है। शास्त्र-ज्ञान इसी महान् उद्देश्य की सिद्धि से सार्थक होता है। 'प्रसाद' ने नाटक, काव्य और कहानी-उपन्यास लिखे हैं। विषय अधिकांश प्राचीन साहित्य से लिये हैं; पर सबको नवीन भारत के बीजारोपण में विनियुक्त किया है।

इन तीन समर्थ लेखकों की चर्चा करने से गद्य के तीन प्रमुख प्रतिनिधि लेखकों की चर्चा हो जाती है, पर कहानी-उपन्यास से लेकर आलोचना, निबन्ध आदि के क्षेत्र में अनेक समर्थ लेखक आए हैं।

गद्य की बहुमुखी उन्नति

इस काल में गद्य की बहुमुखी उन्नति हुई है। पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखा-चित्र, संस्मरण, गद्यगीत, भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध, समालोचना, भ्रमण आदि के क्षेत्रों में इन विषयों के

समस्त लेखकों की चर्चा सम्भव नहीं है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था होने के कारण खोजपूर्ण गम्भीर निबन्धों का लिखा जाना आरम्भ हुआ है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हुई है। अभी इस घोषणा का प्रभाव स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई दे रहा है, परन्तु बहुत शीघ्र इसका फल दिखाई देगा। शीघ्र ही हिंदी राष्ट्रीय सीमा के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की प्रतियोगिता में आयेगी। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हिन्दी गद्य ने जिस अद्भुत प्राणशक्ति का परिचय दिया है, वही उसे इस नवीन उत्तरदायित्व के सम्हालने में भी समर्थ सिद्ध करेगी।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[जन्म सं० १६०७: : मृत्यु सं० १६४१]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के खानदान में हुआ था। अमीचन्द के पुत्र फतेहचन्द थे, जिनका विवाह सेठ गोकुलचन्द की कन्या से हुआ था। इनके पुत्र गोपालचन्द थे। यह वैष्णवभक्त और ब्रजभाषा के कवि थे। भक्ति के अलावा उनकी रीति और अलंकार सम्बन्धी कविताएँ भी मिलती हैं। इन्हीं गोपालचन्द के पुत्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्र शुक्ल ५ सं० १६०७, और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १६४१ को हुई।

भारतेन्दु जब ५ वर्ष के थे तभी उनकी माता का शरीरान्त हुआ और उसके २ वर्ष बाद ही—अर्थात् जब भारतेन्दु ७ वर्ष के थे, तब उनके पिता की भी मृत्यु हो गई। इस प्रकार माता पिता के स्नेह और देख-रेख से वंचित अवस्था में भारतेन्दु ने जीवन में प्रवेश किया। भारतेन्दु की प्रारम्भिक शिक्षा घर में हुई थी। हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का प्रारम्भिक ज्ञान उन्हें घर पर ही अध्यापक द्वारा प्राप्त हुआ था। बाद में कुछ समय के लिए वह क्वींस कालेज में भी भर्ती हुए पर वहाँ उनका मन न लगा। कविता करने की ओर उनकी रुचि प्रारम्भ से थी। सं० १६२२ में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथ पुरी गये। इसी यात्रा में उनका परिचय बंगाल की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। सं० १६२५ में उन्होंने "विद्या सुन्दर" नाटक बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इसी वर्ष उन्होंने "कवि-वचन सुधा" नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली, जिसमें कुछ काल बाद गद्य भी छपने लगा। सं० १६३० में उन्होंने "हरिश्चन्द्र मैगजीन" नामकी

एक मासिक पत्रिका निकाली, आगे चलकर इसीका नाम "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" हो गया। हिन्दी गद्य का परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी में प्रकट हुआ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने, "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में लिखा है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति मे झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाजसुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है ...... "।

भारतेन्दु साहित्य विशाल है। उनके मौलिक नाटक नौ हैं—१. सत्य हरिश्चन्द्र, २. चन्द्रावली, ३. भारतदुर्दशा, ४ नीलदेवी ५. अन्धेर नगरी ६. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, ७. विषस्य विषमौषधम्, ८. सतीप्रताप और ९. प्रेमयोगिनी। इनके अलावा आठ नाटक अनूदित हैं। भारतेन्दु के भक्ति-काव्य सम्बन्धी ४१ ग्रन्थ हैं। पर ये सभी छोटे और भक्ति भाव से भरे हैं। भारतेन्दु ने अनेक शृंगार काव्य भी लिखे है। राष्ट्रीय रचनाएँ उनकी बहुत हैं। उन्होंने कुछ इतिहास ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनके अलावा भारतेन्दु ने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं; पर इनमें सभी सामयिक और कुछ अधूरे भी हैं।

भारतेन्दुकाल हिन्दी गद्य के विकास का काल है। भारतेन्दु के नाटकों में उनके गद्य का स्वरूप दिखाई पड़ता है। उन्होंने गद्यसाहित्य के निर्माण के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसका परिमार्जन भी किया। उनकी भाषा में न तो उर्दू-फारसी

के शब्दों की भरमार है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया, उन्हें हिन्दी का बनाकर अपनाया। विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में न स्वीकार कर के उन्होंने तद्भव रूप में स्वीकार किया। कवि होने के कारण उन्होंने शब्दों को मधुर बनाया। उनकी भाषा भावों के अनुसार चलती है। कहीं तो उसमें व्यंगों की बौछार है और कहीं कोमल-कान्त-मधुर शब्दों की झंकार। उनकी शैली में ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुणों का विकास हुआ है।

भारतेन्दु मुख्य रूप से कवि और नाटककार थे। उनके नाटकों का सर्वाधिक प्रचार हुआ है; क्योंकि उनके नाटक खेलने योग्य होते थे। उनके नाटकों में हिन्दी गद्य का प्रथम विकास स्पष्ट है। यहाँ भारतेन्दु के "सत्य हरिश्चंद्र" नामक नाटक का तृतीय अंक उनके गद्य को दिखाने के लिए दिया जा रहा है। इसके शब्दों में माधुर्य और शैली में प्रसाद गुण है।

———

सत्य हरिश्चन्द्र

तृतीय अङ्क

[स्थान—काशी के घाट-किनारे की सडक]

(महाराज हरिश्चन्द्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—देखो काशी मे पहुँच गये। आह ! धन्य है काशी ! भगवति वाराणसी ! तुम्हे अनेक प्रणाम है। अहा ! काशी की कैसी अनुपम शोभा है।

चारहु आश्रम बर्न बसै मनि
कंचन धाम अकासविभासिका।
सोभा नही कहि जाय कछू विधिनै
रची मानो पुरीन की नासिका॥
आपु बसैं 'गिरिधारन जू'तट
देवनदी बर बारि बिलासिका।
पुन्य प्रकासिका पाप-विनासिका
हीय-हुलासिका मोहति कासिका॥"

"बसै बिंदुमाधव बिसेसरादि देव सबै
दरसन ही ते लागै जममुख मसी है।
तीरथ अनादि पंचगंगा मनिकर्निकादि
सात आबरन मध्य पुण्यरूपी धँसी है॥
"गिरिधरदास" पास भागीरथी सोभा देत
जाकी धार तोरैं आसु कर्मरूप रसी है।
ससी सम जसी असी बरना मे बसी, पापखसी
हेतु असी, ऐसी लसी बारानसी है॥"

"रचित प्रभासी भासी अवली मकानन की
जिनमें अकासी फबै रतन-नकासी है।
फिरैं दास दासी विप्र गृही औ संन्यासी लसैं
बर गुनरासी देवपुरी हू न जासी है॥
'गिरिधरदास' विश्व कीरति बिलासी, रमा-
हासी लौं उजासी जाकी जगत हुलासी है।
खासी परकासी पुनवाँसी चन्द्रिका सी जाके
बासी अबिनासी अघनासी ऐसी कासी है॥"

देखो! जैसा ईश्वर ने यह सुन्दर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसा ही नदी भी इसके लिये दी है। धन्य गंगे!

"जम की सब त्रास बिनास करी मुख तें निज नाम उचारन में।
सब पाप प्रतापहि दूर दर्यो तुम आपन आप निहारन में॥
अहो गङ्ग अनङ्ग के शत्रु करे बहु, नेक जलै मुख डारन में।
'गिरिधारन जू' कितने बिरचे गिरिधारन धारन धारन में॥"

कुछ महात्म्य पर ही नहीं, गङ्गाजी का जल भी ऐसा ही उत्तम और मनोहर है! अहा!

नव उज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि-नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्री हरिपद-नख-चन्द्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्मकमण्डल-मंडन, भव खण्डन, सुर-सरबस॥
सिव-सिर मालति-माल, भगीरथ नृपति-पुण्य-फल।
ऐरावतगज गिरिपति हिम-नग-कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ-सहस परस जल मात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर सञ्चारन॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई ।
सपने हू नहिं तजी, रही अङ्कम लपटाई ।।
कहूँ बँधे नव घाट, उच्च गिरिवर-सम सोहत ।
कहुँ छतरी, महुँ मढ़ी, बढ़ी मनमोहत जोहत ।।
धवल धाम चहुँ ओर फहरत धुजा पताका ।
घहरत घण्टा धुनि धमकत धौंसा करि साका ।
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत ।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत ।।
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत ।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ।।
धोवति सुन्दरि बदन करन अतिही छबि पावत ।
बारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ।।
सुन्दरि-ससि-मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ।।
दीठि जँही जँह जाति रहति तितही ठहराई ।
गङ्गा छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई ।।

(**कुछ सोचकर**) पर हा ! जो अपना जी दुखी होता है तो संसार सूना जान पड़ता है ।

"अशनं वसनं वासो येषां चैवाविधानतः ।
मगधेन समा काशी गंगाप्यङ्गारवाहिनी ।।"

विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिये दुख होता है । कैसे कष्ट की बात है, राज-पाट, धन-धाम सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे ? क्या करें ? हम सत्य-धर्म कभी छोड़ेंगे ही नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न भी देंगे तो क्या ? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाए बिना शरीर भी तो नहीं त्याग सकते । क्या करें ?

कुबेर को जीत कर धन लावें ? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है; तो क्या किसी से मांग कर दें ? क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे, फिर ऋण काढ़े ? पर देंगे कहाँ से ? हाँ ! देखो, काशी मे आकर लोग संसार के बन्धन से छूटते है, पर हमको यहाँ भी हाय-हाय मची है। हा ! पृथ्वी ! तू फट क्यों नहीं जाती कि मै अपना कलंकित मुँह फिर किसी को न दिखाऊँ ! **(आतंक से)** पर यह क्या ? सूर्यवंश मे उत्पन्न होकर हमारे ये कर्म है कि ब्राह्मण का ऋण दिये बिना पृथ्वी मे समा जाना सोचें। (कुछ सोचकर) हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती। क्या करें ? हमे तो संसार सूना देख पड़ता है। **(चिंता करके एक साथ हर्ष से)** वाह हम अभी तो स्त्री, पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार है। क्या हमलोगों के बिकने से दस सहस्र, स्वर्ण-मुद्रा भी न मिलेगी ? तब फिर किसका इतना सोच ? न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी, हमने तो पहिले ही विश्वामित्र से कहा था—

बेचि देह दारा सुवन, होय दास हू मन्द।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥

(नेपथ्य में) तो क्यों नहीं अपने को बेचता ! क्या हमे और काम नहीं है कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें ?

हरि०—अरे मुनि तो आ पहुँचे। क्या हुआ आज उनसे एक दो दिन की अवधि और लेंगे।

[विश्वामित्र आते हैं]

विश्वा०—**(आप ही आप)** हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इन्द्र के कहने ही पर नहीं हमारा इस पर स्वतः भी क्रोध है, पर क्या करें, इसके सत्य, धैर्य्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राजभ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूंगा तब तक मेरा संतोष न होगा। **(आगे देख कर)** अरे ! यही दुरात्मा **(कुछ रुक कर)** वा, महात्मा-

हरिश्चन्द्र हैं ! (प्रकट) क्यों रे ! आज महीने मे कै दिन बाकी हैं ? बोल कब दक्षिणा देगा ?

हरि०—(**घबड़ाकर**) अहा ? महात्मा कौशिक, भगवन् ! प्रणाम करता हूँ। (**दंडवत् करता है।**)

विश्वा०—हुई प्रणाम, बोल तैंने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया ? आज महीना पूरा हुआ, अब मै एक क्षण भर भी न मानूँगा। दे अभी, नही तो—(**शाप के वास्ते कमंडल से जल हाथ में लेते हैं**)

हरि०—(**पैरों पर गिरकर**) भगवन् ! क्षमा कीजिये। यदि आज सूर्यास्त के पहिले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजियेगा। मैं अभी अपने को बेचकर मुद्रा ले आता हूँ।

विश्वा०—(**आप ही आप**) वाह रे महानुभावता ! (**प्रकट**) अच्छा आज साँझ तक और सही। साँझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूँगा, वरंच त्रैलोक्य में आज ही बिदित कर दूँगा कि हरिश्चन्द्र सत्यभ्रष्ट हुआ।

[जाते हैं]

हरि०—भला किसी तरह मुनि से प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेचकर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा ! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है, इस लोक मे वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल-लाल आँखे नही देखी हैं। (**आगे चलकर**) अरे क्या बाजार में आ गये, अच्छा। (**सिर पर तृण रखकर**) अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को पाँच हजार मोहर पर बेचते है, किसी को लेना हो तो लो। (**इसी तरह कहता हुआ इधर-उधर फिरता है**) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरे को दंड देते थे पर आज वही कर्म हम आप करते हैं। दैव बली है। (**'अरे सुनो भाई' इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर**) क्या

कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर्म करते हो?" आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (**ऊपर देखकर**) क्या? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो, और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे, समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है (**ऊपर देख कर**) क्या कहा? "कुछ दाम कम करो।" आर्य हम लोग तो क्षत्रिय है, हम दो बात कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था वह दिया।
[**नेपथ्य में**]

आर्यपुत्र! ऐसे समय मे हमको छोड़ जाते हो! तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहके क्या करूँगी? स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं, इससे पहिले बायाँ अङ्ग बेच लो तब दाहिना अंग बेचो।

हरि०—(**सुनकर बड़े शोक से**) हा! रानी की यह दशा इन आँखो से कैसे देखी जायगी!

[**सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं**]

शैव्या—कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बालक—अम को वी कोई मोल ले तो बला उपकार ओ।

शैव्या—(**आँखों में आँसू भर कर**) पुत्र! चंद्रकुल-भूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर वचन कहता है? मैं अभी जीती हूँ।
[**रोती है**]

बालक—(**माँ का आँचल पकड़ के**) माँ! तुमको कोई मोल लेगा तो अमको वी मोल लेगा। आँ आँ माँ लोती काए को ओ।
[**कुछ रोना-सा मुँह बना के शैव्या का आँचल पकड़ के झूलने लगता है।**]

शैव्या—(**आँसू पोछकर**) मेरे भाग्य से पूछ!

हरि०—अहह ! भाग्य ? यह भी तुम्हें देखना था ! हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनका कुछ धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी ? हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्ती की सेवा योग्य बालक और स्त्री को बिकता देखकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते !

[बारम्बार लम्बी साँस लेकर आँसू बहाता है]

शैव्या—('कोई महात्मा' इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) क्या कहा ? क्या-क्या करोगी ? पर-पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूँगी (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "इतने मोल पर कौन लेगा ?" आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

[उपाध्याय और बटुक आते हैं]

उपा०—क्यों रे कौंडिन्य, सच ही दासी बिकती है ?

बटुक—हाँ गुरुजी, क्या मैं झूठ कहूँगा ? आप ही देख लीजिएगा।

उपा०—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल। देख धारा-प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर से उधर फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है। और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

बटुक—(आगे-आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो (कुछ आगे बढ़कर) गुरुजी, वह जहाँ भीड़ लगी हुई है वहीं होगी।

उपा०—(शैव्या को देखकर) अरे ! यही दासी बिकती है ? (शैव्या 'अरे कोई हमको मोल ले' इत्यादि कहती और रोती है। बालक भी माता की भाँति तोतली बोली से कहता है)

उपा०—पुत्री ! कहो तुम सेवा करोगी ?

शैव्या—पर पुरुष सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो-जो कहियेगा, सब सेवा करूँगी।

उपा०—वाह ठीक है। अच्छा, लो यह सुवर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के काम-काज नहीं कर सकती, सो तुम सम्हालना।

शैव्या—(हाथ फैलाकर) महाराज ! आपने बड़ा उपकार किया।

उपा०—(शैव्या को भली भाँति देख कर आप ही आप) अहा ! यह निस्संदेह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊंचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे-धीरे और बहुत सम्हाल के बोलती है। हा, इसकी यह गति क्यों हुई ! (प्रकट) पुत्री ! तुम्हारे पति हैं न ?

[शैव्या राजा की ओर देखती है]

हरि०—(आप ही आप दुःख से) अब नहीं है। पति के होते भी स्त्री की यह ऐसी दशा हो !

उपा०—(राजा को देख कर आश्चर्य के) अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षःस्थल और संसार की रक्षा करने के योग्य लम्बी-लम्बी भुजा-वाला कौन मनुष्य है और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है ?

(प्रकट) महात्मा, तुम हमको अपने दुख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहो।

हरि०—भगवन् ! और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपा०—तो हम से धन लेकर आप शीघ्र ही ऋणमुक्त हूजिए।

हरि०—[दोनों कानों पर हाथ रखकर] राम राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आप से धन लेकर हमारी कौन गति होगी !

उपा०—तो पाँच हजार मोहर पर आप दोनों में से जो चाहें सो समारे संग चलें।

शैव्या—(राजा से हाथ जोड़कर) नाथ ! हमारे आछत आप मत बिकिए, जिसमें हमको अपनी आँख से यह न देखना पड़े, हमारी इतनी बिनती मानिए। (रोती है)

हरि०—(आँसू रोककर) अच्छा ! तुम्हीं जाओ। (आप ही आप) हा ! यह ब्रज हृदय हरिश्चन्द्र ही का है कि अब भी नहीं विदीर्ण होता !

शैव्या—(राजा के कपड़े में सोना बाँधती हुई) नाथ ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य ! क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्यपुत्र का भलीभाँति दर्शन कर लूँ। फिर यह सुख कहाँ और मैं कहाँ !

उपा०—हाँ, हाँ, मैं जाता हूँ। कौंडिन्य यहाँ है, तुम उसके साथ आना।

[जाता है]

शैव्या—(रोकर) नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना।

हरि०—(अत्यन्त घबड़ाकर) अरे-अरे विधाता ! तुझे यही करना था ! (आप ही आप) हा ! पहिले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान् सूर्य का मुख मलीन हो रहा है। (रोता हुआ प्रकट रानी से) प्रिये ! सर्वभाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शैव्या—(रोकर) नाथ ! जो आज्ञा।

बटु०—उपाध्याय जी गए, अब चलो जल्दी करो।

हरि०—(आँखों में आँसू भर के) देवी ! (फिर रुककर अत्यन्त सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भली भाँति करना और उनके सब शिष्यों से भी सुहृद्-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीति-पूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव

पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावें, जो-जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना। [आँसू बहाते हैं]

शैव्या—जो आज्ञा। [राजा के पैरों पर गिरके रोती है]

हरि०—(धैर्यपूर्वक) प्रिये, देर मत करो, बटुक घबड़ा रहे हैं। [शैव्या उठ रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे-धीरे चलती है।]

बालक—(राजा से) पिता, माँ कहाँ जाती है ?

हरि०—(धैर्य से आँसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(बटुक से) अले माँ को मत ले जा। माँ का आँचल पकड़ के खींचता है।

बटुक—(बालक को ढकेलकर) चल-चल देर होती है।

[बालक ढकेलने से गिरकर रोता हुआ उठकर अत्यन्त क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता ।]

हरि०—ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना चाहिये (बालक को उठाकर धूर पोंछ के मुँह चूमता हुआ) पुत्र, मुझ चांडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्या देखता है ? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा मे सहना चाहिये। जाओ, माता के संग, मुझ भाग्यहीन के संग रहकर क्या करोगे ? (रानी से) प्रिये, धैर्य धरो अपना कुल और जाति स्मरण करो। अब जाओ, देर होती है। [रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं]

हरि०—धन्य हरिश्चन्द्र ! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा ! संसार मे धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।

[विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चन्द्र पैर पर गिरकर प्रणाम करता है]

हरि०—(हाथ जोड़कर) महराज, आधा लीजिए आधो अभी देता हूँ। [सोना देता है]

विश्वा०—हम आधी दक्षिणा ले के क्या करें, दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा।

[नेपथ्य में]

धिक् तपो धिग् व्रतमिदं धिग् ज्ञानं धिग् बहूश्रुतम्।
नीतवानसि यद् ब्रह्मन् हरिश्चन्द्रमिमां दशाम् ॥

विश्वा०—(बड़े क्रोध से) आह ! हमको धिक्कार देनेवाला यह कौन दुष्ट है ?

(ऊपर देखकर) अरे विश्वदेवा, (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो, तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही मे ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ। (जल छोड़ते हुए)।

[नेपथ्य में हाहाकार के साथ बड़ा शब्द होता है]

(सुनकर और ऊपर देखकर आनन्द से) हहहह ! अच्छा हुआ ! यह देखो किरीट-कुंडल बिना मेरे क्रोध से विमान से टूटकर विश्वेदेवा उल्टे हो-होकर नीचे गिरते है। और हमको धिक्कार दें !

हरि०—(ऊपर देख कर भय से) वाह रे तप का प्रभाव ! (आप ही आप) तब तो हरिश्चन्द्र को अब तक शाप नहीं दिया है यह बड़ा अनुग्रह है ! (प्रकट) भगवन्, स्त्री बेचकर यह आधा धन पाया है सो लें, और हम अपने को बेचकर अभी देते है।

(नेपथ्य में)

अरे, अब तो नहीं सही जाती।

विश्वा०—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दे।

[हरिश्चन्द्र 'अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है। चांडाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं।]

धर्म—(आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत।
जल-थल-नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालय ॥

हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी।
इक हमही सँग जात, तजत जब पितु सुत नारी ॥
सो हम नित थित सत्य में, जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य-परिच्छन नृपति को, आजु भेष हम यह कियो ॥

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन मे नहीं है।

(आगे बढ़कर प्रकट) अरे ! हरजनवाँ ! मोहर का सन्दूक ले आवा है न ?

सत्य—क चौधरी ! मोहर ले के का करबो।

धर्म—तोह से का काम पूछै से ?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

हरि०—('अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि दो-तीन बार पुकार के इधर-उधर घूमकर) हाय ! कोई नहीं बोलता और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट होकर शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)

धर्म—(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पच्चास सौ मोहर लेव।

हरि—(आनन्द से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान ! बड़े अवसर आप आए, लाइये। (उसको पहिचान कर) आप मोल लोगे ?

धर्म—हाँ, हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)

हरि०—आप कौन हैं ?

धर्म—हम चौधुरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार ॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का है काज ॥
फूलमती देवी के दास। पूजें सती मसान निवास ॥
धनतेरस औ रात दिवाली। बलि चढ़ाय के पूजैं काली ॥

सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ से खोल ॥

(मत्त की भाँति चेष्टा करता है)

हरि०—(**बड़े दुःख से**) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (**विश्वामित्र से**) भगवान् मैं पैर पड़ता हूँ, मैं जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा, मुझे चांडाल होने से बचाइये।

विश्वा०—छिः मूर्ख ! भला हम दास लेके क्या करेंगे ? "स्वयं दासास्तपस्विनः।"

हरि०—(**हाथ जोड़कर**) जो आज्ञा करेंगे हम सब करेंगे।

विश्वा—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

हरि—हाँ हाँ, जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा।

विश्वा०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

हरि०—जो आज्ञा। (**आप ही आप**) अब कौन सोच है। (**प्रकट धर्म से**) तो हम एक नियम पर बिकेंगे।

धर्म—कौन ?

हरि—भीख असन, कंबल बसन, रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहैं करिहैं सब ह्वै दास॥

धर्म—ठीक है, लेव सोना। दूर से राजा के आँचल मे मोहर देता है।

हरि०—(**लेकर हर्ष से आप ही आप**)
ऋण छूट्यो पूर्यो बचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडालहू होइ आजु मोहि दाप॥

(**प्रकट विश्वामित्र से**) भगवन्, लीजिए यह मोहर।

विश्वा०—(**मुँह चिढ़ाकर**) सचमुच देता है !

हरि०—हाँ, हाँ, लीजिए ! (**मोहर देते हैं**)

विश्वा०—(लेकर) स्वस्ति ! (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी। [जाना चाहते हैं]

हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन् ! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न ?

विश्वा०—हाँ, क्षमा हुआ। अब हम जाते हैं।

हरि०—भगवन् ! प्रणाम करता हूँ।

[विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं]

हरि०—अब चौधरी जी, (लज्जा से रुक कर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म—(मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जाव अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कफ्फन का दान ॥
जो कर तुम कर नहीं चुकावे। सो किरिया करने नहिं पावे॥
चलो घाट पर करो निवास। भए आज से हमरे दास ॥

हरि०—जो आज्ञा।

[जवनिका गिरती है]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पं० बालकृष्ण भट्ट

[जन्म सं० १९०१:—:मृत्यु सं० १९७१]

बालकृष्ण भट्ट के पिता का नाम वेणीप्रसाद था। बालकृष्ण भट्ट को प्रारम्भ में संस्कृत की शिक्षा मिली थी। बाद में इलाहाबाद के मिशन स्कूल से उन्होंने एंट्रेन्स भी पास किया। सन् १८७७ में इलाहाबाद के कुछ नवयुवकों ने हिन्दी-प्रवर्धिनी नाम की एक सभा की स्थापना की। इसी सभा से सं० १९३३ में "हिन्दी-प्रदीप" नामक मासिक पत्र निकला, जिसके सम्पादक भट्ट जी थे। इस पत्रिका द्वारा उन्होंने हिन्दी गद्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण काम किया।

बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं में "सौ अजान एक सुजान", "नूतन ब्रह्मचारी", "कलिराज की सभा", "रेल का एक विकट खेल", "बाल-विवाह नाटक", "जैसा काम तैसा परिणाम", "आचार विडम्बना", "भाग्य की परख", गीता और सप्तसती की आलोचना तथा साहित्य-सुमन प्रसिद्ध हैं। "पद्मावती" और "शर्मिष्ठा" भट्टजी के नाटक हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से दो भागों में भट्ट-निबन्धावली प्रकाशित है।

बालकृष्ण भट्ट ने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर कहावतों और मुहावरों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में पूर्वीपन भी है। व्यंग्य और वक्रता की उनके लेखों में भरमार है। भट्टजी के कुछ निबन्धों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य है और कुछ में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ फारसी अरबी और कभी-कभी अंग्रेजी के भी शब्दों का मिश्रण। इस प्रकार उनकी भाषा दो शैली में चलती है। उनके वाक्य बड़े

पर निबंध छोटे होते हैं। वह अपनी रचना में बोलते से जान पड़ते हैं। भट्टजी की यही विशेषता उन्हें भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों से अलग कर देती है। उनके निबन्ध में भावावेग भी खूब होता है। उनकी भाषा पर संस्कृत का पूर्ण प्रभाव है—वह अलंकारयुक्त, प्रवाहपूर्ण, संयत और भावानुकूल है; उसमें रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारों का भी सफल प्रयोग है। प्रस्तुत निबन्ध "चन्द्रोदय" में भट्टजी की शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। शैली की दृष्टि से ही इस निबन्ध का महत्त्व है। इसमें उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकार की अद्भुत छटा है। सौन्दर्य-योजना और भावों के झंकार की दृष्टि से यह शैली ठीक है। पर विचार और अनुशीलन के लिए उतनी उपयुक्त नहीं है।

———

चन्द्रोदय

अंधेरा पाख बीता, उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह चन्द्रमा उसी दिशा में दिखाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुःखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और पश्चिम की ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया, जिससे रक्त बह निकला? अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ, जिससे उसका चेहरा तकतमा गया और उसी की यह रक्त-आभा है? इस्लाम धर्म के माननेवाले नये चन्द्र की बहुत बड़ी इज्जत करते है, सो क्यों? मालूम होता है इसीलिये कि दिन-दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ मानो उपदेश देता है कि रमजान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय। तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कामरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामन्त्र है या अन्धकार महाराज के हटाने का अंकुश है या विर-हिणियों के प्राण कतरने की कैंची है, अथवा शृङ्गार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी हैं, या तारा मौक्तिकों से गुँथे हार के बीच का यह सुमेरु है, अथवा जंगम जगत् मात्र को डसनेवाले अनंग-भुजंग के फन पर का यह चमकता हुआ मणि है, या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है, या संध्या-नारी की कामकेलि के समय छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा है, या तारा मोतियों को दो सीपियों में से एक सीपी है।

इस प्रकार दूज से बढ़ते-बढ़ते यह चन्द्र पूर्णता को पहुँचा। यह पूनो का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? वह गोल प्रकाश का पिंड

देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन से उदय होती है कि क्या यह निशा-अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है, रजनी के लिलार पर बुक्के का तिलक है, अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चक्र मानो शिव की जटा में चमकता हुआ कुंद के सफेद फूलों का गुच्छा है, या कामवल्लभा रति की जटा में कूजता हुआ कबूतर है, अथवा आकाश रूपी बाजार में तारा रूपी मोतियों का बेचने वाला सौदागर है ? कुईं की कलियों को विकसित करते, मृगनय-नियों का मान समूल उन्मूलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अंधकार को निगलते सीढ़ी दर सीढ़ी शिखर के समान आकाश रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। च्पातमस्कांड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है, मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा हो, जिससे बीच-बीच जो कलंक की कालिमा है, सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं, अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल-गृह है, या आकाश गंगा के तट पर चरने वाला हंस है, जो सोती हुई कुइयों के जगाने को दूत बन कर आया है, या देवनदी आकाशगंगा का पुंडरीक है या चाँदनी का अमृतकुंड अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं, वे सब गौएँ हैं, और उनके झुन्ड में यह सफेद बैल है, या हीरे से मढ़ा हुआ पूर्व दिगंगना का कर्णफूल है, या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिए सान धरने के लिए सफेद पत्थर है, या संध्या नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय के पहिले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है, मानो फागुन मे इस रसिया चन्द्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने मे अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई है। अथवा निशायोगिनी ने तारा-प्रसूनसमूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामीजनों को अपने वश मे करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुक्का उड़ाया है,

अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा में काल महागणक ने रात के नापने को एक घटी यन्त्र छोड़ रखा है, अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है, या वियोगी मात्र को कामाग्नि में झुलसाने को यह दिनमणि है, या कंदर्प-सीमंतिनी रतिदेवी का छप्पेदार करधनी का टिकड़ा है, या उसी में जडा चमकता हुआ सफेद हीरा है, या सब कारीगरा के सिरताज आतशबाज की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है, अथवा महापथगामी समयराज के रथ के सूर्य और चन्द्रमा रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है, जो चलते-चलते घिस गया है, इसी से बीच में कालाई देख पड़ती है, अथवा लोगों की आँख और मन को तरावट और शीतलता पहुँचाने वाला यह बड़ा भारी बर्फ का कुंड है, इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट वैभव के वर्णन में चंद्रमा को मन और नेत्र माना है, या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफेद गेंद है, समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं-कहीं नीलिमा बाकी रह गई है, या तारे रूपी मोतीचूर के दाने का यह बडा भारी पसेरा लड्डू है, अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिये यह बिल्लौर की गोल दावात है, या खड़िया मिट्टी का बड़ा भारी ढोका है, या काल-खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है, या रजत का कुंड है, या आकाश के नीले गुंबज मे संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमंत में हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है, सो मानो यह तपस्या कर रहा है, जिसका फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनो के दिन पावेगा, तब इसकी द्युति फिर दामिनी-सी दमकेगी।

—पण्डित बालकृष्ण भट्ट

पं० प्रतापनारायण मिश्र

[जन्म सं० १६१३ : मृत्यु सं० १६५१]

प्रतापनारायण मिश्र का जन्म उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिला के बैजे गाँव में आश्विन कृष्ण ६ सं० १६१३ को हुआ। उनके पिता का नाम संकटाप्रसाद था और वे ज्योतिषी थे तथा ज्योतिष की कमाई से सम्पन्न भी थे। प्रतापनारायण मिश्र का मन पढ़ने में नहीं लगता था, इसी कारण उनको उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त हो सकी। फिर भी घर में ही कुछ संस्कृत, कुछ उर्दू-फारसी और हिन्दी का ज्ञान उन्हें हो गया। प्रारम्भ से ही मिश्रजी कविता-प्रेमी थे। समाचार-पत्र पढ़ने का शौक भी उनको था। पहले वह कवि और बाद में पत्रकार हुए। १५ मार्च १८८३ में उन्होंने "ब्राह्मण" नामक एक मासिक पत्र निकाला। कुछ वर्षों में यह बन्द हो गया। इसके बाद वह कालाकाँकर से निकलने वाले "हिन्दी-हिन्दोस्थान" के सम्पादक हो गए। आषाढ़ शुक्ल १४ सं० १६५१ को प्रतापनारायण मिश्र का देहान्त हो गया।

प्रतापनारायण मिश्र ने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। इसके अलावा उन्होंने कुछ मौलिक ग्रन्थों का निर्माण भी किया था। उनके मौलिक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—"कलिप्रभाव (नाटक), "कलि कौतुक" और "भारत दुर्दशा" (रूपक) "ज्वारी खुआरी" (प्रहसन)। इनके अलावा "शृंगार-विलास" "लोकोक्तिशतक" "प्रेम-पुष्पावली", "दंगलखण्ड", "तृप्यन्ताम्", "ब्राडला स्वागत", "मानस-विनोद" और "शैव-सर्वस्व" उनके काव्य ग्रंथ हैं। कुछ अच्छे निबन्ध भी मिश्रजी ने लिखे हैं।

प्रतापनारायण मिश्र की शैली में हास्य और व्यंग की प्रधानता है। उनकी भाषा में उचित संस्कार की भी कमी है। पर

गम्भीर भावों के व्यक्त करने की उनमें अद्भुत कुशलता भी थी—ऐसे स्थलों पर उनमें ओज गुण भी खूब प्रकट हुआ है। मिश्रजी की भाषा में मुहावरों, कहावतों और स्थानी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। किन्तु कहीं-कहीं वह पंडिताऊपन के कारण बोझिल भी है। वस्तुतः प्रतापनारायण मिश्रजी की शैली अधिकांशतः साधारण जनसमाज के निकट थी। यही कारण है कि अपने काल में वह लोकप्रिय थे। "शिव-मूर्ति" नामक इस निबन्ध में मिश्रजी की शैली का पूर्ण विकास हुआ है।

———

शिवमूर्ति

हमारे ग्राम-देव भगवान् भूतनाथ-से अकथ्य, अप्रतर्क्य एवं अचित्य हैं। तो भी उनके भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य है। अशरीरी आकारहीन (मनुष्य की भाँति वे नसें आदि बन्धन से बद्ध नहीं) हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेमदृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तो भी जितना कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मन:शान्तिकारक सत्य है ! ! ! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अन्धों के आगे हाथी आवे और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नही है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद ले के सब-कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलले वाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खम्भे के ममान कहेगा ! यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खम्भे के। पर कहनेवालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन या पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनंत मान के अपन मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ! सिद्धान्त यह कि

हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति, प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शान्तिलाभ करेंगे।

उनके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर, संसार-परमार्थ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं, उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावें। जितनी देर पूजा-पाठ करते है, जितनी देर माला करकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक है वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कहके बेचारे जनक को दोषी ठहराते हैं। साकार कल्पना करके व्यापक का और निराकार कहके अस्तित्व का लोप करते है। हमारा यह खेल केवल उनके विनोदार्थ है, जो अपनी विचार-शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जोवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं। प्रिय-पाठक! उसकी सभी बातें अनंत हैं, तो मूर्तियाँ भी अनंत प्रकार से बन सकती है और एक-एक स्वरूप में अनंत उपदेश प्राप्त हो सकते हैं, पर हमारी बुद्धि अनंत नहीं हैं, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ-कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है, जिसका प्रयोजन यह है कि हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है ऐसा नहीं कि महज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख लो, कई पीढ़ी की छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि

धधकी वहीं हमारा प्रभु पिघला उठा। यदि हम सच्चे उसके हैं तो हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपने नियम पालने से काम। हम चाहे मरें या जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना, पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए नहीं आती। यह बड़े ही अमीर को साध्य है, वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान छोड़ दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है। मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते है। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर-प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निर्धन के धन है। 'हुनरमंदों से पूछे जाते है बाबे हुनर पहिले।'' या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त मे सब ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर में ही लय होते हैं। इस बात का दृष्टान्त मिट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है, हृदय-मन्दिर की कुवासनारूपी दुर्गन्ध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टिकारक 'सुगन्धं पुष्टिवर्द्धनम्'। यदि मूर्ति बनाने या बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्टमूर्ति बनी बनाई पूजा के लिए विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेममूर्ति मनोमन्दिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है, उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग। श्वेत रंग केवल सतोगुण का सूचक है, ईश्वर त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनों गुणों का आश्रय है—त्रिगुणात्मक भी है (ब्रह्मा, विष्णु, शिव—श्वेत, रक्त, कृष्ण)। यह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहे तो बेअदबी नहीं

करते। दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये, कविता के आचार्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुरागदेव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सब से पक्का यही रंग है, इस पर दूसरा रंग नही चढ़ता। ऐसे ही प्रेमदेव सब से अधिक पक्के हैं; उन पर और रंग क्या चढ़ेगा? इसके सिवा बाह्य जगत् के प्रकाशक नैन हैं। सबकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाश ज्ञान है, उसको प्रकाशिनी विद्या है, जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी मे लिखी जाती हैं। फिर कहिये जिससे भीतर-बाहर दोनो प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें?

हमारे रसिक पाठक जानते हैं, किसी सुन्दर व्यक्ति की आँखों मे काजल और गोरे-गोरे गाल पर तिल कैसा लगता है कि कवियों भर की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्वशोभामय परमसुन्दर का कौन रंग कल्पना करोगे? समस्त शरीर मे सर्वोपरि सिर है। उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रंग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप-ज्योति है वही तक देख सकोगे, फिर आगे अन्धकार ही तो है? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की सबकी बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? रामचन्द्र, कृष्णचन्द्रादि को यदि अंग्रेजी जाननेवाले ईश्वर न मानें तो भी यह

मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक संबंध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग-ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिव-मूर्ति लिंगाकार होती है जिसमे हाथ, पाँव, मुख, कुछ नहीं होते। सब मूर्तिपूजक कह देंगे कि हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते, न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा के लिये एक संकेत चिन्ह मानते हैं। यह बात आदि मे शैवों के ही घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है।

सच भी यही है, जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक-ठीक मूर्ति क्या? आनन्द की कैसी मूर्ति? दुःख की कैसी मूर्ति? केवल चित्तवृत्ति! केवल उसके गुणो का कुछ द्योतन!! बस! ठीक शिवमूर्ति यही है। सृष्टिकर्तृत्व, अचिन्त्यत्व, अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है यह बात पूर्ण रूप से कोई वर्णन नहीं कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल है। बस, जब सभी बातें गोल है तो चिह्न भी हमने गोल-गोल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं हैं, तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिङ्ग ही होगी; क्योंकि जिसमे हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है? पर यदि कोई मोटी बुद्धिवाला कहे कि जो कोई अवयव हा नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते है कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है? तात्पर्य यह कि कुछ है और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कहा जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भाँति शिवलिंग भी समझ

लीजिये। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। पर वास्तव मे यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा, समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा और हम जन्म भर बका करेंगे पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्री गणेशाय नमः हुआ है!!!

इसी से महात्मा लोग कह गये है कि ईश्वर को वाद मे न ढूँढो पर विश्वास मे। इस लिये हम भी योग्य समझते है कि सावयव (हाथ, पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तुएँ हमारे आसपास है उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौडती है। फारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो कबरिस्तान का नकशा खीचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ श्मशान होते ही नही है। वे यह न कहे तो क्या कहे कि बड़े बड़े बादशाह खाक में दबे हुए सोते है। यदि कबर का तख्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो-चार की हड्डियाँ निकलेंगी, जिनपर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है, यह दारा की, इत्यादि। हमारे यहाँ उक्त विषय मे श्मशान का वर्णन होगा, क्योकि अन्य धर्मियों के आने से पहले यहाँ कब्रों की चाल ही नही थी।

योरोप मे खूबसूरती के बयान मे अलकावलि का रंग काला कभी न कहेगे। यहाँ ताम्रवर्ण सौंदर्य का रंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये, तब समझ मे आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल मनुष्य ही है। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की-सी सब ठौर की गई है। इञ्जील और कुरान मे भी कहीं-कहीं खुदा का दाहिना हाथ, बायाँ हाथ, इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला लिखा हुआ है कि उसने आदम को अपने स्वरूप मे बनाया। चाहे जैसी उलट-फेर की बातें कही जायें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव हैं, तो उसका

भी रूप हमारे ही रूप का-सा होगा। हो जाहे जैसा, पर यदि हम ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं, जैसों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई, बन्धु, राजा, गुरु, जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सबके हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं; तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा। बस, इसी मत पर साव-यव सब मूर्ति मनुष्य की मूर्ति सी बनायी जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं, क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आक-र्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक है जिनका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए भयजनक है। अथच हम उनकी मंगलमयी सृष्टि मे हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेंगे। उनका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति मे कई एक विशेषताएँ हैं। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

सिर पर गंगा का चिन्ह होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान् सदाशिव विश्व-व्यापी हैं। अतः विश्व-व्यापी की मूर्ति-कल्पना मे जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों मे गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गयी है और शिव जी को परमवैष्णव कहा है। उस पर वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण-निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे विष्णु भगवान् को परम शैव लिखा है कि विष्णु भगवान् नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदाशिव को पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार करके कि हमारा नाम कमलनयन है अपना नेत्र-कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है इससे अधिक शैवता क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे

कि ऐसे-ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान् विष्णु की शैवता और भगवान् शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय ये दोनों एक ही प्रेमस्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असम्भव है। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिये गये हैं, जिसमें कवियों को वचन-शक्ति के लिये आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रत्यर्क्य विषयों को दिग्दर्शनमात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते है कि आप भगवान् गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान् भोलानाथ को परमवैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गंगा जी परम शक्ति है। इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीशजी की ही प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं। पर शैव-समाज का वैष्णवों और शाक्त लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हे तो महामैत्री से परस्पर रहना चाहिये। शिवमूर्ति मे अकेली गंगा कितना हित कर सकती है? इससे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं। जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो चार

वेदो मे आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप, उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेममयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेदों द्वारा बड़ी हद तक चार फल (धर्म्मार्थ, काम, मोक्ष) पा जायेंगे, पर उनका पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े-बड़े ऋषि, मुनि नही कह सकते, हम क्या हैं ? पर, जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं, उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान् इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमे निश्चय है कि किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के बाद कैलास-वास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलास देखा है, न किसी देखनेवाले से वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हाँ, यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को हो रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलास का सुख प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलास है। सो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलास होगा ? हे विश्वनाथ ! हमारे हृदयमन्दिर को भी कभी कैलास बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायें और इस भूमि पर फिर कैलास हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातुपाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं, हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर

है। कोई महाशय प्रेम को ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक-एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेम-गंगा है। उसी के जल से स्नान कराने का महात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नही हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय मे प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् सब पदार्थ शिवमूर्ति है, अर्थात् कल्याण के रूप है, नही तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हे सुख होता, भैयाचारे मे नाम होता, विपत्ति काल मे निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नही हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है, सब तुच्छ पदार्थ है, केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा ? जब चाहो आँखें मूँद कर अंधे की नकल कर देखो। अंधकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढने मे हाथ, मुख दोनों दुखेंगे। अधिक परिश्रम करोगे दिमाग में गर्मी चढ़ जायगी। खैर, इन बातों के बहाने से क्या है ? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बेसिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेम की बहन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदय-मन्दिर मे प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

—पं० प्रतापनारायण मिश्र

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

[जन्म सं० १९२१ : मृत्यु सं० १९९५]

महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक ग्राम में वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२१ को हुआ। उनके पिता का नाम रामसहाय दूबे था। द्विवेदी जी का परिवार आर्थिक दृष्टि से गरीब, पर देशभक्त था। प्रारम्भ में द्विवेदी जी ने संस्कृत और उर्दू की शिक्षा प्राप्त की। कठिन परिश्रम, प्रतिभा और लगन के होते हुए भी गरीबी के कारण उन्हें अपनी शिक्षा का क्रम स्थगित करके अजमेर में १५ रु० मासिक की नौकरी करनी पड़ी। बाद में बम्बई में रहकर उन्होंने तार बूबा का काम सीखा और रेलवे में नौकर हो गए। रेलवे की नौकरी करते हुए ही उन्होंने संस्कृत, मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का अच्छा अध्ययन किया। इस बीच वह बराबर हिन्दी में लिखा भी करते थे। अन्त में साहित्य की प्रेरणा से उन्होंने रेलवे की नौकरी छोड़ दी। सन् १९०३ में उन्होंने "सरस्वती" का सम्पादन अपने हाथ में लिया और १८ वर्ष तक लगातार उसका सम्पादन किया। सन् १९२१ में उन्होंने "सरस्वती" से अवकाश ग्रहण किया। पर सन् १९२८ तक वह बराबर "सरस्वती" के लिए लिखते रहे। सन् १९३३ में नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) ने द्विवेदी जी को आचार्य की उपाधि से सम्मानित करके उन्हें एक महत्त्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रंथ अर्पित किया। २१ दिसम्बर सन् १९३८ को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पंचत्त्व प्राप्त किया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के निर्माण में महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने "सरस्वती" का सम्पादन करते हुए हिन्दी भाषा को साहित्यिक रूप दिया है। उन्होंने हिन्दी को व्याकरणदोष से मुक्त करके साहित्यिक हिन्दी का निर्माण किया। "सरस्वती" का सम्पादन करते हुए हिन्दी साहित्य को लोकमङ्गल के उद्देश्य में नियोजित किया। इसीलिए उन्होंने कठिन विषयों को भी सरल और बोधगम्य रूप में रखा। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों और सरल तथा प्रचलित शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। लोकमङ्गल की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने हिंदी को विविध विषयों से विभूषित किया; विविध विषयों के नये-नये लेखकों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी—उनकी भाषा का संस्कार करके उन्हें हिन्दी का बनाया। इन्हीं कारणों से आधुनिक हिन्दी साहित्य में उनके नाम से एक द्विवेदी युग की ही प्रतिष्ठा हो गई।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बहुत लिखा। पर जो कुछ लिखा उसका मूल उद्देश्य नई प्रवृत्तियों को उठाना था। यही कारण है उनके ग्रंथों की संख्या बहुत नहीं है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की शैली सरल, बोधगम्य और समझाने वाली है। वह अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक समझाने के लिए लिखते थे। उद्देश्य की इस भिन्नता के कारण, उनके निबन्धों के गठन में कमजोरी है। उनका प्रस्तुत निबन्ध "कवि और कविता" उनकी शैली का सुन्दर नमूना है। इसमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने पाठकों को खूब समझाते नजर आ रहे हैं।

———

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमे कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते है। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी मे कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है, वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बड़े-बड़े काम हुए है। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुए बिना नही रहते और जैसा भाव मन मे पैदा होता है, कार्य के रूप मे फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों मे वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसगों का वर्णन सुनने और उत्तरामचरित आदि दृश्यकाव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इंगलेण्ड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात से सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौर-दौरा था वहाँ गदर मचा दिया है। अतए

कविता एक असाधारण चीज है परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान-वृद्धि नही होती, जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता, तभी तक कविता मे परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता मे कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। और असभ्य अथवा अर्द्ध सभ्य लोगों का यह कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढे-लिखे आदमियों पर नही। पुराने काव्यों को पढ़ने मे लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्षो से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते है, वे उलट फेर से प्राय: उन्हीं का वर्णन करते है। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार मे जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन मे जो भाव आप ही आप पैदा होते है उन्हे वह जब निडर होकर अपनी कविता मे प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण दोषों को देख कर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हो उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे, परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनीतिक विषयों मे कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक नही होनी चाहिए। अथवा जिस विषय मे रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने मे कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय मे रहते है, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते है, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते है, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पडती है। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों मे कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलङ्कार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलङ्कार है ? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है ? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते है वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने अथवा किसी एक ही विषय की कविता मे कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू मे बहुत अधिक है। यदि यह कहे कि आशिकाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति नहीं

होगी। किसी दीवान को उठाइये, आशिक-माशूक के रङ्गीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रँगा हुआ पाइयेगा।

इश्क यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंढी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग जलाना, सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है? फिर क्यों इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है? अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता मे नयापन कैसे ला सकते है? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते है। कवित्त, सवैये, घनाचरी, दोहे, सोरठे, लिखने से बाज नही आते। नख-शिख, नायिका-भेद, अलंकार-शास्त्र पर पुस्तकें लिखते चले जाते है, अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा मे दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्व-साधारण की बोलचाल तक मे कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते है उन्ही का प्रयोग और लोग भी करने लगते है। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध मे कवि [illegible]प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते है। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों के ही हाथ मे रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता मे बुरे

शब्द और बुरे भाव भरते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं उलटा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते है कि यह कविता तो 'छन्द प्रभाकर' में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ मे कविता है और सब कोरी काँव-काँव !

इसी तरह नुकताचीनी से तंग आकार अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविता ! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खींचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों मे मुझे लज्जित होना पड़ता है, पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मै घमंड करता हूँ। याद रख तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नयी कविता प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है, कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार

तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों मे कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नही, और संस्कृत का प्रायः सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दी का है, देखो संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा मे हो।

अरब मे भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गए है। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिल्कुल ख्याल नही था। अंग्रेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है; हाँ एक बात जरूरी है कि वजन और काफिये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है, पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण।

यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमे न हो तो इसका होना निष्फल ही समझना चाहिए। पद्य के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उल्टी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के ढूँढने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य मे बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिये और वजन उनकी स्वाधीनता मे विघ्न डालते है। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रता से प्रकट नहीं करने देते। काफिये और वजन के परे ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधानता को अप्रधानता प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर ही जाता रहता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आजकल हिन्दी के पद्यरचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर, बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं, कुछ सम्पादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंगपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते है।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों को सुझाना है। उसके लिये कल्पना या इमैजिनेशन (Imagination) की बड़ी जरूरत है। यह शक्ति जिसमें जितनी अधिक होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नही कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसीलिये संस्कृतवालों ने प्रतिभा को ही प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती, इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्य को हस्तामलकवत् देखता है। वर्त्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने-वाले के हृदयोदधि मे नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती है। कवि कभी ऐसी अद्भुत-अद्भुत बातें कह देते है कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर छोर नहीं, वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल मे वह अजीब-अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियो के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से

प्रकृति के कौशल अच्छी रीति से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षाएँ भी ग्रहण करता और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि मे प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन मे अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उसके मन मे उठा ही करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान का अनुभव करना सब का काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्रशोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मय होकर उस दु.ख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर यह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य क वर्णन मे ढूँढ़-ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुननेवालो की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता, तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिये कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ,

और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे मन का भाव पूरे तौर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों के ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्ति शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नही जानता, अथवा यों कहिये कि जिसके पास शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिये। जो सुकवि हैं उन्हे एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे खूब जानते है कि किस शब्द मे क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द म उनके भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो किन्तु विचार-परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में ही न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो।

कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ-सुथरी सड़क बनानी चाहिए जिस पर कंकड़-पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और खाइयों का नाम भी न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क के जरा भी ऊँची-नीची होने से पैरगाडी के सवार को दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोडी-सी भी हमवार न हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों मे लदे हुए पेड़ हों, जगह-

जगह पर विश्राम करने के स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्य की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों।

दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भावों और अटपटे शब्दों का प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एकमात्र सूखा शब्दझंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो; उसे पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रखा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो।

स्वाभाविक से उनका लगाव छूटा न हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु उन बातों मे भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक साँचे मे ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी भर सकता है, पर असलिय के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्राय. निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए, कविता में उसे कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हनेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें सम्भव हैं, वे ही स्वाभाविक है। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही है, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमे जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह

उस पर कविता करने के लिये विवश-सा हो जाता है। उसमे एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों मे बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द जोरदार न हों पर जोश उनमे छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है, और पढ़ने और सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दो का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नही। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते है वे ही धीमे शब्दों मे जोश भर सकते है।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता मे हो तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता मे केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं, परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सब से बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि है जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है, ऐसे ही कवि धन्य है और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते है वह देश भी धन्य है।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

बा० श्यामसुन्दर दास

[जन्म सं १६३२ : : मृत्यु सं० २००२]

श्यामसुन्दर दास के पिता का नाम देवीदास था। श्यामसुन्दर दास का जन्म आषाढ़ शुक्ल ११ सं० १६३२ वि० को हुआ। सन् १८६७ ई० में उन्होंने काशी से बी० ए० पास किया। सन् १८६६ ई० में वह काशी के हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गए। जब वह इंटर में पढ़ रहे थे, तभी काशी के कुछ मित्रों के साथ उन्होंने नागरी-प्रचारिणी-सभा कायम की। अध्यापक हो जाने के बाद इस दिशा में उन्होंने और भी प्रयत्न किया। इस संस्था द्वारा उन्होंने हिन्दी लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी-शब्द-सागर और हिन्दी वैज्ञानिक कोश द्वारा उन्होंने हिन्दी के रूप को सँवारा। १६२१ ई० में सर्वप्रथम 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' में हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हुई तो वह विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक बनाए गए। सन् १६३३ ई० में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'रायबहादुर' की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १६३७ ई० से उन्होंने हिन्दी विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया। इसके बाद हिन्दू विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि से सम्मानित किया। ७० वर्ष की आयु में सन् १६४५ ई० में उनकी मृत्यु हुई।

श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—"हिन्दी-शब्द-सागर", "वैज्ञानिक कोश", "हिन्दी कोविद रत्न माला", "मनोरंजन पुस्तक माला", "पृथ्वीराज रासो" "नासिकेतोपाख्यान", "छत्रप्रकाश", "वनिता विनोद"

"इन्द्रावती", "हम्मीर रासो", "शकुन्तला नाटक", "रामचरितमानस", "दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली", राजा लक्ष्मणसिंह कृत "मेघदूत" और "परमाल रासो"। इनके अलावा उन्होंने "साहित्यलोचन", "भाषा विज्ञान", "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास", "गद्य-कुसुमावली", "गोस्वामी तुलसीदास" "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" और "रूपक रहस्य" नामक ग्रन्थो का निर्माण भी किया।

श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी की तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए उसके अनुकूल साहित्य का निर्माण किया। उनकी शैली वर्णनात्मक और विवेचनात्मक है। उनकी भाषा मार्जित और सहज है। प्रस्तुत निबन्ध "गोस्वामी तुलसीदास" श्यामसुन्दर दास की भाषा और शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

———

गोस्वामी तुलसीदास

हिन्दी भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और 'हिन्दी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठाने वाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे। यद्यपि अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्व-कालिक हो गये हैं और यद्यपि आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्ति-श्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरन्तर बढ़ती ही जाती है, तथापि उनकी लौकिक-जीवन-गाथा का उल्लेख संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवन-चरित्र लिखने वाले महात्मा रघुबरदास, समकालीन शिष्य बाबा वेणीमाधव दास, अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिर्जापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि सज्जन जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामी जी की जीवन-गाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारम्भिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी उपेक्षा योग्य नहीं। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामी जी के ग्रन्थों की जाँच-पड़ताल करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के सम्बन्ध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं, तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परन्तु इस जीवनी से पूरा-पूरा सन्तोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असम्बद्ध घटनाओं का संग्रहमात्र होती है। उससे मानसिक और कला-सम्बन्धी क्रमविकास का पता नहीं चलता।

गोसाईं चरित्र तथा तुलसी चरित्र दोनों के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ और स्वर्गवास संवत् १६८० ठहरता है। तुलसीदास युक्तप्रान्त के बाँदा जिले मे राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम (पत्यौंजा के) दूबे और इनकी माता हुलसी थीं। जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है; जिसमें उनके अभुक्त मूल मे जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा बेणीमाधव दास ने इस घटना पर पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शान्त कर दिया है। बाल्यावस्था मे आश्रयहीन इधर-उधर घूमने-फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामी जी की रचनाओं मे मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के प्रारम्भ मे किया है। सम्भवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानन्द के आश्रम मे रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामी जी भी उसी मत के अवलम्बी बने। उनका अध्ययन काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामी जी युवा अवस्था मे घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामी जी के विवाह-सम्बन्ध मे कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका 'ब्याह न बरेखी जाति पाँति ना चहत हौं,' पद्यांश माना जाता है। परन्तु उनके विवाह और विवाहित जीवन के सम्बन्ध मे जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामी जी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर

भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेमविह्वल होकर घोर वर्षा मे अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़ कर चल देना, भक्तमाल की टीका और वेणीमाधवदास के चरित्र से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था मे भ्रमण करते हुए गोस्वामी जी का ससुराल मे अपनी चिरवियुक्त पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने का अनुरोध निम्नांकित दोहे मे बतलाया जाता है :—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते भी कुछ आलोचकों की सम्मति मे भी तुलसीदास के विवाह की बात भ्रान्त जान पड़ती है। उनके ग्रंथों मे स्त्रियों के सम्बन्ध मे जो विरोधात्मक उद्गार पाये जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामी जी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नही हो सके। यही उनके विरोधात्मक उद्गारों का कारण है। परन्तु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निन्दा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के सम्बन्ध मे किसी के कटु अनुभव होते है, यह बात नही है। सब से महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के सम्बन्ध मे बाह्य और अभ्यन्तर साक्ष्य मिलते है और जनश्रुतियाँ उनका अनुमोदन करती हैं। स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामी जी साधु बन गये और घर छोड़ कर देश के अनेक भूभागों तथा तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था। उत्तर में मानसरोवर, दक्षिण में सेतबन्धु रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग,

अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे, जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ रचना करते थे, मथुरा, वृन्दावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी आपने यात्रा की थी और यहीं इनकी "कृष्ण गीतावली" लिखी गयी थी। इसी भ्रमण में गोस्वामी जी ने पच्चीसों वर्ष लगा दिये थे और बड़े-बड़े महात्माओं की सङ्गति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने गये थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अन्त में ये काशी मे आकर रहे और संवत् १६३१ मे अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों मे समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रन्थ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली वह निरन्तर बढ़ती ही गई और अब सर्वव्यापिनी हो रही है। रामचरितमानस लिख चुकने के उपरान्त गोस्वामी जी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधन के क्षेत्र मे आकर आत्मनिवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अङ्कित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न सम्बन्ध पर जोर देकर गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रन्थ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे तथापि पत्रिका में गणेश, शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामी जी ने लौकिक पद्धति का अनुकरण किया है

और अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत मे कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करने वालों में गोस्वामी जी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनयपत्रिका की रचना गोस्वामी जी ने काशी में गोपाल मन्दिर में की थी। गोस्वामी जी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी मे उस समय महामारी का कोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। उन्हें प्लेग हो गया था पर कहा जाता है कि महावीर जी की वन्दना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी; परन्तु वे इसके उपरान्त अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध मे अब तक मतविभेद है। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार :—

सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यौ शरीर॥

परन्तु वेणीमाधवदास के गोसाईं-चरित मे उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० को श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसन्धान करने पर यह तिथि ठीक ही ठहरी, क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा और गोस्वामी जी के घनिष्ठ टोडर के वंश मे तुलसीदास जी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है। वह सीधा श्रावण के कृष्ण पक्ष मे तृतीया के दिन दिया जाता है, "सावन शुक्ल सप्तमी को" नहीं।

महाकवि तुलसीदास जी का प्रभाव भारतीय जनता पर है जिसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सौम्यता आदि तो है ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नाना पुराणनिगमागम सम्मतं" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों को गोस्वामी जी ने विविध

शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हे अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परन्तु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है, साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानन्द की छाप स्पष्ट दीख पडती है। उनके रामचरितमानस मे मध्यकालीन धर्मग्रन्थों की, विशेषतः अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडि-रामायण और हनुमान्नटक नामक ग्रन्थों का ऋण भी गोस्वामी जी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमे मध्यकालीन धर्मग्रन्थों के तत्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार दृष्टि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है। गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं मे उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत मे घर घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव उसी पर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्मग्रन्थ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य मे वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते है उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या मे रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने हिन्दूधर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता, पिता, गुरु,

भाई आदि सामाजिक, पारिवारिक सम्बन्ध का कैसा निर्वाह होना चाहिए—आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दुओं के सब देवता, सब रीति, नीति, वर्णाश्रम व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार है। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप मे वे व्यापक हिन्दू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस मे उसका वह रूप बड़ो ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हे इतना ऊँचा उटा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से राम-चरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनन्दमग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग मे नहीं, सारे उत्तरभारत मे; स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आजकल उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनन्त कल्याणकारी माना जाता है। इन्ही कारणों से उसकी प्रधानता है। गोस्वामी के रामचरितमानस व विनयपत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रन्थ तथा बरवै रामायण, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्य-संदीपनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध है। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंहसरोज में किया गया है। परन्तु उनमे से कुछ तो अप्राप्य है और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रन्थों मे सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रन्थ गोस्वामी जी रचित निर्विवाद माने जाते है। बाबा वेणीमाधव दास ने गोस्वामी जी की 'रामसतसई' का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के समान नहीं है। क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप मे आये हैं जो

चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय होते है, गोस्वामीजी जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी बेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है, गोस्वामी जी ने नरकाव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तिों का रामकथा के प्रसंग मे नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लाग पछताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण कीर्तन मे ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं, वे मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित्र के बाहर भी जाकर उन्होंने मानव-समाज के लिए हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम मे दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खण्डन साखी-सब्दी-दोहाकारों की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादा-वाद की जैसी पुष्टि शिष्य को गुरु की अवहेलना से दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है, उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों मे गोस्वामी जी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वांतः-सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमे आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र

मिलना असम्भव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करनेवाले केशव आदि से सहज मे ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा अधिक संकुचित है। और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसीदास हिन्दी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते है तब गोस्वामी जी की अनुपम महत्ता का सक्षात्कार स्पष्ट रीति से हा जाता है।

गोस्वामी जी की रचनाओं का महत्त्व उनमे व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी परन्तु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। हनुमान का सीता की खोज मे लंका जाने की कथा तो वाल्मीकि रामायण में भी है परन्तु सीता जी की शोक-विह्वल अवस्था मे उनका अशोक के ऊपर से अंगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना गोस्वामी जी की उद्भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य-अन्य चमत्कारपूर्ण परिवर्तन है। गोस्वामी जी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखलाने में गोस्वामी जी को स्वतन्त्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें है उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता

हिन्दी के कवियों में बहुत कम हैं, परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबन्ध मे सम्बन्ध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण में निरन्तर ध्यान रखने मे वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते है कि वाल्मीकि रामायण के आधार पर जो ग्रन्थ अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखे गए हैं उनमें और गोस्वामी जी की रचनाओं मे महान् अन्तर है। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस मे उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है वह तो वाल्मीकि रामायण से अधिक गम्भीर और पूत है।

जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे, अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परन्तु गोस्वामी जी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे अतः कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थानों मे संस्कृत-मिश्रित अवधी का प्रयोग किया गया है। इससे इनके रामचरितमानस मे प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखायी देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस का बात। उनकी विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौर-सेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामी जी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी। क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थी। गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनो मे संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थों मे जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छन्द-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने

जायसी की तरह दोहे, चौपाइयां का क्रम रक्खा है। परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छन्दों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द परिवर्त्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरितमानस के लङ्काकांड में जो युद्ध-वर्णन है उसमें चन्द आदि वीर कवियों के छन्द भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों में कथा कही गई है, जो भाटों की परम्परा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की जयश्री का जो विशद वर्णन है उसके अनुकूल कवित्त छन्द का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनयपत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभाषा के सगुणोपासक सन्त-महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गयी है। गीत काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत-शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक (कविता) आरम्भ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिन्दी के गीत काव्यों में भी सङ्गीत के राग, रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छन्दों में नीति आदि के उपदेश दिये हैं। अथवा अलङ्कारों की योजना के साथ फुटकर में भाव-व्यञ्जना की है। सारांश यह कि गोस्वामी जी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रन्थों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उन में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामी जी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिन्दी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यञ्जन शक्ति गोस्वामी जी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं में हिन्दी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यञ्जन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है। जिसके परिणाम-स्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः

उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। और दोनों मे ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों मे दर्शनीय हुई है। छन्दों और अलङ्कारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरित मानस के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी मे नहीं देख पड़ता। क्या प्रबन्ध-कल्पना, क्या सम्बन्ध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यञ्जना, सभी उच्चकोटि की हुई है। पात्रों के चरित्र-निर्माण मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिन्दी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अन्तिम प्रश्न संस्कृति का है।

गोस्वामी जी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म ग्रन्थ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामी जी हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं, उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों मे प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनन्तकाल तक अङ्कित रहेगी, इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक काल विशेष से सम्बद्ध कवियों को यदि हम फूलस्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों को फलस्वरूप मानना पड़ेगा। फिर ये फलस्वरूप ग्रन्थकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के फूलस्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला जायगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न-भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रख कर यदि हम तुलसीदासजी के सम्बन्ध

में विचार करते हैं तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदास जी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पडता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिन्दी साहित्य का पूर्ण विकास हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमोन्नत विकास की परम्परा बन्द हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिन्दी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ कि जो उनसे बढ़ कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिन्दी कविता के कीर्तिमन्दिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामीजी को हिन्दी-कवियों की रत्नमाला का सुमेरु मानकर ही पूर्वकथित साहित्य-विकास के सिद्धान्त की समीक्षा करनी पड़ेगी।

—बाबू श्यामसुन्दर दास

श्री प्रेमचन्द

[जन्म सं० १६३७ : : मृत्यु सं० १६६१]

प्रमचन्द का जन्म बनारस जिले के पांडेपुर नामक कस्बे के पास लमही नामक गाँव में श्रावण शुक्ल १० सं० १६३७ को हुआ था। उनके पिता का नाम अजायब राय था। प्रेमचन्द का असली नाम धनपत राय था। प्रारम्भ में प्रेमचन्द जी को उर्दू, फारसी की शिक्षा मिली। इसके बाद वे क्वींस-कालेज में भर्ती हुए। वहाँ से मैट्रिक पास किया। इसके बाद सरकारी नौकरी करते हुए प्राइवेट रूप से उन्होंने बी० ए० पास किया। १६२० के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने शिक्षा-विभाग की सरकारी नौकरी त्याग दी। १६२१ में उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में प्रधानाध्यापक का पद स्वीकार किया। पर वहाँ ज्यादा समय तक न रह सके। इसके बाद बनारस आकर उन्होंने "मर्यादा" नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन शुरू किया। "मर्यादा" का सम्पादन छोड़ने के बाद काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग में वह प्रधानाध्यापक हो गए। पर वहाँ भी रहना उन्हें पसन्द न आया और लखनऊ से निकलने वाली मासिक पत्रिका "माधुरी" के सम्पादक हो गए। वहाँ भी ज्यादा समय न रह सके और बनारस आ कर "हंस" नामक मासिक पत्रिका निकाली। फिर "हंस" को बहुत घाटा लगने लगा और उस घाटे की पूर्ति के लिए उन्होंने बम्बई की एक फिल्म कम्पनी में नौकरी कर ली। पर इस काल में भी उनका "हंस" बराबर निकलता था। फिल्म कम्पनी की नौकरी में बम्बई रहते समय उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया—उन्हें जलोदर रोग हो गया। इसी रोग से अपने गाँव में सं० १६६६ में उनकी मृत्यु हुई।

प्रेमचन्दजी प्रधान रूप से कथाकार थे। उन्होंने अनेक विदेशी उपन्यासों और नाटकों का अनुवाद किया। दो कहानी-संग्रहों का सम्पादन किया। पर यह सब उनके बैठे ठाले का काम था। प्रेमचन्द का प्रधान काम है, उनके नौ उपन्यास और करीब चार सौ कहानियाँ। उनके नौ उपन्यास हैं—कर्मभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, सेवा-सदन और गोदान। "गोदान" उनका सर्वश्रेष्ठ और हिन्दी साहित्य का भी सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। उनकी सभी कहानियाँ "मानसरोवर" के आठ भागों में संग्रहीत हैं। कर्बला, प्रेम की वेदी, संग्राम तथा रूठी रानी उनके नाटक हैं। "कुछ विचार" में उनके निबन्धों का संग्रह है।

प्रेमचन्द ने ही आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य को कला के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया। उनके कथा-साहित्य में आधुनिक भारतीय समाज और उसमें भी उत्तर भारत के ग्रामीण समाज का यथार्थ चित्र है। प्रेमचन्द जी यथार्थवादी कथाकार है। प्रारम्भ में उनके यथार्थवाद में सुधारवादी प्रवृत्ति भी थी—इससे उनकी आदर्शनिष्ठा का पता लगता है। पर "गोदान" में आते आते यथार्थवाद ने क्रान्तिकारी रूप ले लिया। प्रेमचन्द भारतीय साहित्य में पूर्ण मानवता के प्रतिनिधि हैं। उनके चरित्र जीवित और ज्वलन्त हैं—सूरदास और होरी उनके अद्भुत चरित्र हैं। प्रस्तुत कहानी "आत्माराम" ग्रामीण वातावरण के साथ गरीब ग्रामीण के भक्तिभावों के साथ उसकी मनःस्थिति का चित्रण है। इसके अन्दर से स्पष्ट हो जाता है कि गरीबी में नैतिक नियमों का भी निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्य को मनुष्यता के विकास के लिए उसके आर्थिक परिवेश का सुचारु विकास होना आवश्यक है। इस दृष्टि से इस कहानी में प्रेमचन्द जी की विचार-धारा का भी प्रतिनिधित्व है।

आत्माराम

बेंदों-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रायः से संध्या तक अंगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने से लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती, तो जान पडता था, कोई चीज गायब हो गई। वह नित्य प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिये कोइ भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानो मे आवाज आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता', लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे। लेकिन उसके बोझ को हलका करनेवाला कोई न था। लडके कहते—'जब तक दादा जीते है, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।' बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित

गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता था। ज्योंही यह कलह शान्त होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मन्त्र को जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

[२]

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा तो उसका कलेजा सन्न से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था। महादेव घबड़ा कर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार मे कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम मे विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था, इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे बल्कि इसलिए कि उनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों को नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी इसलिए कि वे उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था मे था, जब मनुष्य को शान्ति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया और उसे दिखाकर कहने लगा—'आ-आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उडा और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को तो उसकी

द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने मे सभी को मजा आता था। किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं; तोता फिर उडा और वहाँ से दूर आम के बाग मे एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिजडा लिए मेढक की भाँति उचकता चला। बाग मे पहुँचा, तो पैर के तलुओ से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिजड़ा उठाकर कहने लगा—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतर कर नीचे की एक डाल पर जा बैठा, किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ मे छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया और लपका कि तोते को पकड़ लें; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर जा बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था, तो तोता मूर्तिमयी माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

[३]

रात हो गई। चारों ओर निबिड़ अन्धकार छा गया। तोता न जाने पत्तों मे कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात

को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिनभर कुछ नहीं खाया। रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कण्ठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसीलिए कि यह उसकी अन्त:प्रेरणा थी; और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में से अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देहत्याग करना था।

महादेव दिन-भर भूखा-प्यासा, थका-मांदा, रह-रहकर झपकियाँ लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल लेता और उस विस्तृत अन्धकार मे उसकी आवाज सुनाई देती—'सत्त गुरुदत शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है और कई आदमी बैठे हुए आपस मे कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त दाता।' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला; किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो ठहरो!' एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो! चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने

लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा, हाँ, मोहर थी। उसने तुरत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

[४]

महादेव के अन्तर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण, यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग भी लग गया और वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर? उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज आई—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों बार ये शब्द उसके मुँह से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभावशून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोंपलें और शाखाएँ निकल आई थीं। इस वायु-प्रवाह मे झूम उठा, गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश मे डूबी हुई थी। उसी समय तोता पैरों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा जैसे आकाश से कोई तारा टूटे और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को उठाकर बोला, 'आओ आत्मा-राम तुमने कष्ट तो बहुत दिया पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।' उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नही तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था। इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन मे चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

[५]

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते मे एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसन कलसे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढंककर अपनी कोठरी में रख आया।

जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहित के घर पहुँचा। पुरोहित जी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों मे कोई साँस भी नही लेता। इतने मे महादेव ने पालागन की। पण्डित ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँचा, मालूम नहीं दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—'क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नही, हम इस समय पूजा पर रहते है?' महादेव ने कहा—'महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।'

पुरोहित जी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा-आज क्या है?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेदो और निकटवर्ती गाँवों मे सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था, जो सुनता आश्चर्य करता। आज रेत मे दूब कैसे जमी।

सन्ध्या समय जब लोग जमा हो गये, पण्डितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट मे कट गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी। कितना खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते है। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये, कल से एक महीने तक जब जो चाहे आवे और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे मे आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—हम कहते न थे! किसी ने अविश्वास से कहा—

क्या खाकर भरेगा, हजारों का टोटल हो जायगा।

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये?

महादेव ने उत्तर दिया—उनके घरवाले तो होंगे।

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जाने। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हे महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हे वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित बोले—तुम्हे याद है, मैंने एक कण्ठा बनाने के लिए सोना दिया था, तुमने कई माशे तौल मे उड़ा दिए थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकाली और पुरोहित जी के सामने रख दीं। पुरोहित जी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो तो दो चार रुपये का नुकसान हुआ होगा, बेचारे से पचास रुपए ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नही। बनने को तो पंडित, पर नियत ऐसी खराब! राम-राम!!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा सी हो गई। एक घंटा बीत गया, पर उन सहस्रों मनुष्यों मे से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं, इसलिये आज कथा होने दीजिये, मैं एक महीने तक आपका

राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयो से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार मे कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि ससार बुरों के लिए बुरा है और अच्छों के लिए अच्छा है।

[६]

इस घटना को हुए पचास वर्ष बीत चुके है। आप बेंदों जाइये, तो दूर ही से एक सुनहला कलश दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलश है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता, तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृतिचिह्न है, उनके सम्बन्ध मे विभिन्न किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उसका रत्नजटिल पिंजरा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है, वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अन्तर्द्धान हो गया, पर यथार्थ यह है कि उस पक्षीरूपी चन्द्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी जितनी जन-श्रुतियाँ हैं उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

—प्रेमचन्द

सरदार पूर्णसिंह

[जन्म सं० १९३८ : : मृत्यु सं० १९८८]

सरदार पूर्णसिंह का जन्म पाकिस्तान के एबटाबाद जिला में सं० १९३८ में हुआ। इनके पिता सरकारी नौकरी में इधर उधर रहते थे। अपनी माँ के उद्योग से बालक पूर्णसिंह ने रावलपिंडी से मैट्रिक पास किया। इसके बाद पूर्णसिंह उच्चशिक्षा के लिए लाहौर गए। पर इसी समय उन्हें जापान जाने के लिए छात्र-वृत्ति मिली। सं० १९५७ में वह जापान गए। जापान में रह कर इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में तीन साल तक उन्होंने व्यावहारिक रसायन शास्त्र का अध्ययन किया। यहीं स्वामी रामतीर्थ से उनकी भेंट हो गई। स्वामी रामतीर्थ के प्रभाव में आकर वह संन्यासी हो गए। पर कुछ दिनों बाद उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन आवश्यक समझ कर विवाह किया और इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीटयूट (देहरादून) में नौकरी कर ली। पर स्वामी रामतीर्थ का प्रभाव उनके जीवन पर बराबर बना रहा। ३१ मार्च सन् १९३१ में सरदार पूर्णसिंह की मृत्यु हो गई।

सरदार पूर्णसिंह की रचनाएँ बहुत कम हैं। पर जो हैं वह सुन्दर हैं। अब तक उनके ५ निबन्ध मिले हैं। १. कन्यादान या नयनों की गंगा, २. पवित्रता, ३. आचरण की सभ्यता, ४. मजदूरी और प्रेम, तथा ५. सच्ची वीरता। इन निबन्धों से मालूम होता है कि वह वेदान्ती, आदर्शवादी और आधुनिक विचारों से सम्पन्न भावना-प्रवण व्यक्ति थे। सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों को विचार और भावना समन्वित निबन्ध कह सकते

हैं। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का तत्सम रूप है; पर उर्दू की उपेक्षा भी उन्होंने नहीं की है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए जो भी उचित शब्द मिले, उनका उन्होंने सुन्दर उपयोग किया है। उनकी भाषा प्रौढ़, ओजस्विनी, परिमार्जित तर्कसंगत और व्याकरण के नियमों के अनुकूल है। उनके प्रस्तुत निबन्ध "आचरण की सभ्यता" में विचारों और भावनाओं का अद्भुत गुम्फन है। अनेक स्थलों पर शब्द भावों से पीछे छूट गए हैं। ऐसे मार्मिक स्थलों को व्यंजना के द्वारा ही समझा जा सकता है। जीवन के गहरे अनुभव, सिद्धान्तों की पूर्ण पकड़, विस्तृत जानकारी, भावना-प्रधान स्वभाव और भाषा पर प्रभुत्व के बिना ऐसे निबन्ध नहीं लिखे जा सकते।

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिल पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन मे कला, साहित्य और संगीत की अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमे नाम मात्र के लिये भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा हुआ है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनो की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान है। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसको आत्मा का एक अङ्ग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बेनाम, बेनिशान, बेमकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगन्धि सदा प्रसरित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते है। इसकी उस स्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल

जाती हैं। तीक्ष्ण गर्मी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा-बाँदी से शीतल हो जाते है। मानसोत्पन्न शरदऋतु से क्लेशातुर पुरुष इसकी सुगन्धमय अटल वसन्त ऋतु के आनन्द का पान करते है। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते है। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक मे एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाडी मे सुन्दरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—हो न बदल दिया। चन्द्रमा की मन्द-मन्द हँसी का—तारागण के कटाक्ष पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल मे घुस कर देखो, सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्री केशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे

है। सच्चा आचरण—प्रभाव शील, अचल स्थिति-संयुक्त आचरण न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियो के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान, न धर्म-चर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य मे घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानो के यत्न से, सुनार की छोटी हथौड़ी की मन्द-मन्द चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है, परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबो कर और उनका अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये है। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नही जिसको मदारी एक क्षण मे, तुम्हारी आँखो में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने मे अनन्त काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश मे दौडने लगे, परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों मे लिखे हुए नुस्खों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भो यदि घोल कर पी लिये जायें तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नही होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती, शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोंचले है। ये आचरण की गुप्तगुहा मे नही प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश मे रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी है, परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को सस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है।

ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मन्त्र फूंक सकता है। वह केवल ऋषि के अन्तःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परन्तु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर का एक बाल तक बाँका न होना एक साधारण बात है। पुरुष की कोमल उँगली के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय, जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शान्त हो जायें, बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय, सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायें—परन्तु अंग्रेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञानहीन पुरुषों के लिए स्टीम एंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, धर्म चर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ता है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है—मन्दिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या के लिए—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायें तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में और किसी काल में कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण,

दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इन भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही-सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते-खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गये। घोड़ा उसका मर गया। बन्दूक हाथ मे रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ता पहाड़ी, पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे है। ठंढी हवा उसकी हड्डियों तब को हिला रही है। प्रकृति ने इस घड़ी, इस राजा को अनाथ-बालक से भी अधिक बेसरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी के नीचे टिमटिमाती हुई बती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। वह शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी मे ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी-मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में

देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परन्तु राजा के अन्तस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम गाड़ दी। शिकार मे अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी जीवन अच्छा नही। क्या जंगल के ऐसे जीवन में इस प्रकार के व्याख्यानों से मनुष्य का जीवन शनै:-शनै: नाम-रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन के दु:खों को सहन नहीं किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह मे किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन मे—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरणों को भली-भाँति गढती है और उस पर भी भली-भाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण सम्बन्धी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढता से कैसे ग्रहण करते? नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदास जी यदि कृष्णार्पण किये गये अपने हृदय को एकबार फिर उस नारी की सुन्दरता निरखने मे न लगाते और उस समय फिर एकबार अपवित्र न होते तो सूरसागर मे वह प्रेम का मौन व्याख्यान — आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वन्द्वी भाव से संसार के आचरणों मे एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता। यदि मेरी मर्डलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती? कौन कह सकता है ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने मे वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी की स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिविम्ब होता है। जिसको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकल कर वे अब उदय को प्राप्त हुए है? जिनको हम धर्मात्मा कहते है, क्या पता है, किन-किन अधर्मों को करके वे धर्मज्ञान को पा सके है? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन मे पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म पूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मान्तरो के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकल कर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश मे जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो, तब तक धर्म के गूढ़तत्त्व कैसे समझ में आ सकते है? नेत्ररहित को सूर्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों का लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर मे पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नही हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर निकल नहीं आये, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

जगत् के अनेक सम्प्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं, पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बन्द हैं—और धर्मानुभव के लिए माया-जाल में उनका बन्द होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ? वे भाव—वे आचरण—जो उन

आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अन्तर्गत मौनावस्था मे पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा सम्बन्ध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक हो ही कैसे सकता है? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं, टूटे-टूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम पदार्थ है। राजा मे फकीर छिपा है और फकीर मे राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख मे पण्डित। वीर में कायर और कायर मे वीर सोता है। पापी मे महात्मा और महात्मा मे पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म सम्प्रदायो के अनुच्चरित शब्दों को सुनता है, हम मे कहाँ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बने? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई भी धर्मसम्प्रदाय आचरणरहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्मसम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-सम्भूत-शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्त्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में, विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको, आचरण संघटित करनेवाले धर्म का अङ्ग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा

स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया। उसने अपना सडक स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाये हुए रास्ते पर चल कर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे मे नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा। और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार राम-प्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पडेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौडा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप मे गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूँ तब तक मुझे यदि आध्यात्मिक पवित्रता का भान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय मे इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय मे भी अपने जहाज को नही छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि मे शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमे प्रयोजन ही क्या? आँधी हो, बर्फ हो, बिजली की कडक हो, समुद्र का तूफान हो, वह दिन-रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के मस्तूल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र मे डूब जाता है। परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नही करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता और न कोई देव-पूजा ही करता हूँ। न किसी आचार्य के नाम का

मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने शिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि ही क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को प्रातःकाल प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति मे बीतता है, आकाश के बादलों को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है, मैं किसी को धोखा नहीं देता। हाँ, यदि मुझे कोई धोखा दे, तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत मे अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिए एक लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान् हैं, शरीर मेरा नीरोग है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई मे वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदाय लम्बी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतार कर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य के अभ्यास और विषय-विकार की लम्पटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया, तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्चपद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत मे सम्बन्ध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लुट जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परन्तु धर्मांकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पापमय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मन्दिरों और गिरजों की मन्द-मन्द टिमटिमाती हुई

मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश-देशान्तरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शान्ति नहीं मिलती, जिसकी अन्तर्ज्वाला, दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मन्द नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँद कर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा मे इङ्गलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए, क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अंग्रेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थी। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देख कर कहना पड़ता है कि इनसे वर्त्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों मे जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर-घर सोने और हीरों से न भर जाता तो वह पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्यमात्र को लाभ हुआ। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता का अन्तर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्यजाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए यूरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक भी चन्दा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायेंगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्यवर्द्धक भूमि देने के लिए, जिससे वह प्रकाश और वायु मे खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहे। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियो को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक करण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम क्या एक पुरुष का और जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाये विना, सारी प्रकृति को हवा मे उड़ाये बिना भला कब मिलनेवाला है? प्रकृति को मिथ्या करके नही उड़ाना है, उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों मे डोरा डालकर अमृत निकलना है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छान कर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है, क्या बैठे-बिठाये भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्त्तमान वंश मे अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं। और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियो को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है, परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरोप मे सभी असभ्य थे, परन्तु आज-कल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन

के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रङ्ग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों पालन करना है।

तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धमाड़ से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो। कूच का घड़ियाल बजा दो; कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

तात्पर्य केवल यह कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस-घिस कर बनता है, उसके फूल तो सूर्य की गर्मी और समुद्र के नमकीन पानी से बारम्बार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ तो फिर हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी-अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी-अपनी कुदाल हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते? पीछे मुड़-मुड़ कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममे से हर एक को अपना अश्वमेघ करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आज-

कल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई, माला से तो जप नहीं होता, गङ्गा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, सरदी-गरमी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है, जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले मे अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की दो बड़ी-बडी रोटियों-से प्रतीत होते है। कुटिया मे बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण की सभ्यता की प्राप्ति सम्भव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की सभ्यता का राज्य नही।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमे न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जङ्ग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

—सरदार पूर्णसिंह

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[जन्म सं० १९४१ : : मृत्यु सं० १९९७]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना ग्राम में सं० १९४१ को हुआ था। उनके पिता का नाम चन्द्रबली शुक्ल था और वह सुपरवाइजर कानूनगो थे। शुक्ल जी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई। सं० १९४९ में उनके पिता का तबादला राठ से मिर्जापुर को हो गया और वह मिर्जापुर चले आये। मिर्जापुर में ही शुक्लजी ने सं० १९५८ में मैट्रिक पास किया। यहीं उनका हिन्दी के साहित्यकारों से परिचय हुआ। इसके दो वर्ष बाद शुक्ल जी ने सरकारी नौकरी स्वीकार की। पर वह उसे न कर सके और मिर्जापुर में ड्राइंग मास्टर हो गए। किन्तु इस बीच हिन्दी साहित्यिक के रूप में उन्हें लोग जान चुके थे। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर सं० १९६७ में नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) ने 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादन के काम मे उन्हें बुलाया। काशी आने पर ही शुक्ल जी प्रख्यात हुए। कोश का कार्य समाप्त होने पर वह काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हो गए। बा० श्यामसुन्दर दास के अवकाश ग्रहण करने पर शुक्ल जी हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हुए। इसी पद पर काम करते हुए माघ शुक्ल ६ रविवार सं० १९९७ को शुक्ल जी की मृत्यु हुई।

पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादक थे। उन्होंने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' तथा तुलसी और जायसी के ग्रन्थों का सम्पादन किया था। शुक्ल जी कवि थे। 'बुद्ध चरित' उनका सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। शुक्ल जी अपने काल के सर्वश्रेष्ठ समा-

लोचक भी थे। उनकी आलोचना-पद्धति विवेचनात्मक थी। पर उनकी विवेचनात्मक पद्धति में निर्णयात्मक रूप भी रहता था। स्वभाव की निर्भीकता, गम्भीर पाण्डित्य और पैनी दृष्टि के कारण उनकी आलोचना ने हिन्दी को प्रांजल और सुगठित रूप दिया। हिन्दी आलोचना को उन्होंने आधुनिक रूप दिया। शुक्ल जी प्रथम कोटि के निबन्धकार थे। "काव्य में रहस्यवाद" और "चिन्तामणि" के दो भागों में उनके फुटकर निबन्धों का संग्रह है। उनके निबन्धों में विचारों की सम्बद्धता, तर्क और भावनाओं में समरसता, उठान, विकास तथा समाप्ति में औचित्य तथा विचारों और शैली में परिपाक है। उन्होंने अपने निबन्धों में विचारों को दबा-दबा कर, कस-कस कर सजाया है। शुक्ल जी ने हिन्दी को आधुनिक रूप देकर साहित्यिक भाषा का आदर्श उपस्थित किया है। आज का हिन्दी गद्य शुक्ल जी का ऋणी है।

रामचन्द्र शुक्ल की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस प्रकार हैं— 'बुद्ध चरित', 'काव्य में रहस्यवाद', 'करुणा', 'शशांक', 'त्रिवेणी' (सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचनात्मक निबन्ध), 'चिन्तामणि', 'सूरदास', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'रसमीमांसा'।

प्रस्तुत "उत्साह" नामक निबन्ध शुक्ल जी के भावात्मक निबन्धों में से एक है। पर इसके अन्दर विचार गाम्भीर्य की भी अद्भुत छटा है।

———

उत्साह

दुःख के वर्ग मे जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द के वर्ग में उत्साह का है। भय से हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुःखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते है। उत्साह मे हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमङ्ग मे अवश्य प्रयत्नवान् होते है। उत्साह मे कष्ट या हानि सहने की दृढता के साथ-साथ कर्म मे प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहाते हैं।

जिन कर्मों मे किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है, उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते है। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर इत्यादि भेद किये है। इनमे सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमे आघात या पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवाह नही रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमे साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते है। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस मे ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नही; इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहन करने के लिए तैयार रहना, साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे

साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते है जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पडते है । सारांश यह कि आनन्द-पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं । धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दानवीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्हित रहती है । दानवीरता तभी कही जायगी, जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह मे किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी । इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही अधिक समझी जायगी । पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे, तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा । युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं, जिनमे घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है । अनुसन्धान के लिए तुषारमंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव-देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के अज्ञात घोर जङ्गलो मे प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म है । इनमे जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं, वह भी उत्साह ही है ।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता । जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है, उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं । प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े

समझदार तक इसलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे। लोगों में उनका वैसा आदर सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मानसिक ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशो से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते है, वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहाते है, दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ मे ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम मे उनसे कोई मतलब नही; उसकी ओर ध्यान लेशमात्र नही रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते है, उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह मे वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवाह नही करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान् है, जो किसी प्राचीन प्रथा की, चाहे वह वास्तव मे हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निन्दा उपहास आदि सहा करते है।

समाज-सुधार के वर्तमान आन्दोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची सहानुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गम्भीर पुरुष पाये जाते है, उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान भी बहुत मिलते हैं। मैने कई छिछोरों और लंपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लंबे-चौडे दास्तान हरदम सुनते-

सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव मे कामकथा के रूप मे ऐसे वृत्तान्तों-का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते है, इस ढाँचे के लोगो से सुधार के कार्य मे कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने की सम्भावना रहती है। सुधार के नाम पर साहित्य के क्षेत्र मे भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाये जाते है।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणो मे होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है, उसके सौन्दर्य को पर-पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार मे थोड़ी-बहुत होती है। अत्या-चारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमे साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन मे जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है, वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों मे साहस अपेक्षित नही होता, पर थोड़े बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सबमे करना पड़ता है, और कुछ नही तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता, तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नही होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हंस भी दें, तो वह

हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। जब उस अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और ठहराने आदि के प्रबन्ध मे प्रसन्न-मुख इधर-उधर जाते दिखाई देंगे, तभी वह हमारा उत्साह कहा जायगा। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण है।

प्रत्येक कर्म में थोडा या बहुत बुद्धि का योग रहता है। कुछ कर्मो मे तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ चलती है, उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है, उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर, यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं, वे नीति की है, शस्त्र की नही। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग मे तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने मे तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धिवीर के दृष्टान्त कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों मे देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पण्डित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है, उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धिवीर समझा ही जाता है। इस जमाने मे वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं मे मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपंचों तक मे पाये जाते हैं और काफी तायदाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिये कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृंखला पर होता हुआ उसकी सफलतारूपी समाप्ति तक फैल जाता है। इसी ध्यान से आनन्द की जो तरंगें उठती हैं, वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती है। युद्धवीर में विजेतव्य जो आलम्बन कहा गया है, उसका अभि-प्राय यह है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दानवीर, दयावीर और धर्मवीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दानपात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है, उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है। जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है, उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं, उसका कारण समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्मभावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पडो हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है, उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१—कर्म-भावना से उत्पन्न,

२—फल-भावना से उत्पन्न, और

३—आगंतुक अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्राय: बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है, उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है, जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है, जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्मप्रवर्त्तक आनन्द की मात्रा के अनुसार शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता से प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है, वहाँ कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मन्द पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है—तब-तब आनन्द की उमङ्ग कुछ मन्द हो जाती है, पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्मभावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में उस फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही से दिखाई पड़े, उनकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगाव न मालूम हो, तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा सयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भो कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमे यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा, तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेगे और हमारे अंगो की प्रत्येक गति मे प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मो के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते है। जब तक फल तक पहुँचनेवाला कर्मपथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नही। फल की इच्छामात्र हृदय मे रखकर जो प्रयत्न किया जायगा, वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव-सा लगेगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न मे कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही मे चूक जाता है। मान लीजिए कि एक बहुत ऊँचे पर्वत-शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमे इतनी सजीवना है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार का मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अङ्ग सचेष्ट हो गये, तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख मे बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न को भी फल-प्राप्ति काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमे इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त मे यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नही कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पडे।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त मे यही आता है कि कर्म बहुत कम या सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्ममार्ग मे फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस भावना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी मे ब्राह्मण को एक पैसा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान करके व्यापार मे लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु मे ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी मे चाहिए, फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनन्द से कर्म को उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है, उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलते हुए, उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे, तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं मे अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल मे उसका जितना जीवन बीता, वह संतोष या आनन्द मे बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नही किया। फल पहले से ही कोई बना बनाया पदार्थ नही होता। अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्णरूप से निश्चित की हुई परम्पर

का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है, तब तक उसके चित्त मे जो संतोष रहता है—प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा मे उतना ही अंश केवल शोक और दुःख मे कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म मे आनन्द का अनुभव करनेवालो का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान मे ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचारों का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त मे जो उल्लास और तुष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और होता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी तत्परता उत्पन्न होती है, जो बहुत से कर्मों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख, लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किये जा रहे है। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है, तो जो काम उसके

सामने आते है, उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग साहस कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी उद्योग में लगे हैं, जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है, तो हम उस उद्योग को उत्साह के साथ करते ही है, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते है।

यह बात उत्साह ही मे नही, अन्य मनोविकारों मे भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे है और इसी बीच मे कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है, तो भी हम उस पर झुँझला उठते है। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है न उद्देश्य, यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इसी झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते है कि हम क्रोध मे है और हम क्रोध ही मे रहना चाहते है। क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते है, जिनसे दूसरी अवस्था मे हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय मे उत्साहित रहता है, तो हम अन्य विषयों मे भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है, तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते है। इसी का विचार करके सलाम साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

[जन्म ९ अप्रैल, सन् १८९३]

श्री राहुल सांकृत्यायन के पिता का नाम गोवर्धन पाण्डेय था। राहुल जी के घर का नाम केदार पाण्डेय था। उनका जन्म ९ अप्रैल सन १८९३ ई० में पन्दा ग्राम, जिला आजमगढ़ में हुआ। १४ साल की उम्र में घूमने की इच्छा से उन्होंने गृहत्याग किया। फिर इधर-उधर घूमते और संस्कृत का अध्ययन करते हुए उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। सन् १९१३ ई० में बिहार के सारन जिले के परसा नामक ग्राम में दामोदर दास के नाम से यह वैष्णव साधु हो गये। यहाँ भी उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया। राहुल जी केवल साधु ही नहीं, राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में तथा उसके बाद राजद्रोहात्मक भाषण करने के अभियोग में जेल गये। सन् १९३५ के बाद वह कम्युनिस्ट हो गये। किसान-आन्दोलन में उनको सजा मिली। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय वह बहुत दिनों तक नजरबन्द रहे। राहुल जी आधुनिक भारत के बहुत बड़े यात्री हैं। उन्होंने बिना किसी आर्थिक साधन के तिब्बत, लंका, जापान, चीन, यूरोप और रूस की यात्राएँ की हैं। लेनिन ग्राड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक भी रह चुके हैं। उनकी तिब्बत यात्रा बड़ी ही दुरूह थी। उसी तिब्बत यात्रा की यहाँ झाँकी कराई जा रही है।

राहुल जी १४ भाषाएँ जानते हैं। हिन्दू, बौद्ध और जैन दर्शन तथा साहित्य के वे पंडित हैं। संसार से लुप्त बौद्ध-साहित्य का तिब्बत जाकर उद्धार किया। तिब्बत से प्रमाणवार्तिक और अभिधम्म कोश का प्राप्त कर लेना उनका महत्त्वपूर्ण काम है। राहुल जी का साहित्य विविध विषयों में विभक्त है। दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति, यात्रावर्णन और शोध पर आपने बहुत कुछ लिखा है। कुल ८० से ऊपर ग्रन्थ राहुल जी के प्रकाशित हैं। उनके महत्त्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ 'वोल्गा से गंगा' (कहानी संग्रह), 'सिंह सेनापति' (उपन्यास) और अनेक प्रबन्धों में उनका महत्त्वपूर्ण गद्य है। उनकी भाषा में यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्द रहते हैं; पर फिर भी उनकी भाषा जनसाधारण के नजदीक है। स्थान विशेष पर उनकी भाषा में करारे व्यंग रहते हैं। वर्णनात्मक और विवेचनात्मक दोनों ही शैलियों में उन्होंने लिखा है। प्रस्तुत प्रबन्ध 'तिब्बत की झाँकी' में राहुल जी के गद्य का उदाहरण है। ऐसा ही सहज, सरल और प्रवाहपूर्ण गद्य राहुल जी की सम्पूर्ण रचनाओं में है।

तिब्बत की झाँकी

तिब्बत ऐसा अल्पज्ञात संसार मे कोई दूसरा देश नही। कहने को तो यह भारत की उत्तरी सीमा पर है, किन्तु साधारण लोगों का नहीं शिक्षितों का भी, इसके विषय मे बहुत कम ज्ञान है। मैने अपने एक मित्र को पुस्तक लिखने के लिए कुछ कागज, डाक से भेजने के लिए लिखा था। उन्होंने पूछा कि डाक की अपेक्षा रेल मे किफायत होगी, स्टेशन का पता दें। तिब्बत की वास्तविक स्थिति की जानकारी का ऐसा ही हाल है। हमारे लोगो को यह मालूम नहीं कि हम हिमालय की तलौटी के अन्तिम रेलवे स्टेशनों से चलकर बीस-बीस हजार फुट ऊँची जोतों को पारकर एक महीने मे ल्हासा पहुँच सकते हैं, यदि ब्रिटिश और भोट सरकार की अनुमति हो। कलिम्पोङ से प्रायः दो-तिहाई रास्ता खतम कर लेने पर ग्याञ्ची मिलता है। ब्रिटिश राज्य का प्रतिनिधि यहीं रहता है। और यहाँ अंगरेजी डाकखाना है, जिसका सम्बन्ध भारतीय डाक-विभाग से है, और यहाँ भारतीय डाकघर पर चिट्ठी-पार्सल जा आ सकते है। तार भी ल्हासा तक भारतीय ही दर पर पहुँच सकता है।

तिब्बत के सभ्य संसार से पूर्ण-रूप से अपरिचित होने का एक कारण इसकी दुर्गमता भी है। दक्षिण और पश्चिम की ओर वह हिमालय की पर्वतमाला से घिरा है। इसी प्रकार ल्हासा से सौ मील दूरी पर जो विशाल मरुभूमि फैली हुई है वह इसको उत्तर की ओर से दुर्गम बनाये हुए है। संसार का यह सर्वोच्च पठार है। इसका अधिकांश समुद्र की सतह से १६,५०० फुट ऊँचा है। यहाँ ८ महीने बर्फ जमीन पर जमी रहती है। भारत से आनेवाले लोग दार्जिलिङ्ग या

काश्मीर के मार्ग से यहाँ आते हैं। ल्हासा को दार्जिलिङ्ग से मार्ग गया है। वह वहाँ से २६० मील दूर है।

तिब्बत बड़ा देश है। यह नाम-मात्र को चीन-साम्राज्य के अन्तर्गत है। यहाँ के निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। परन्तु सामाजिक आदि बातों में एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियों में मेल नहीं खाते हैं। तथापि यहाँ धर्म को बड़ी प्रधानता प्राप्त है। यहाँ के शासक दलाई लामा बुद्ध भगवान् के अवतार माने जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि जब नया आदमी दलाई की गद्दीपर बैठता है तब उसमें बुद्ध भगवान् की आत्मा का अविर्भाव होता है। फलतः सारे देश में जगह-जगह बौद्ध मठ पाये जाते हैं। ल्हासा मे तीन ऐसे मठ हैं जिनमें कोई चार-पाँच हजार भिक्षु निवास करते होंगे। उनके सिवा और जो मठ हैं उनमे भी सैकड़ों की संख्या मे भिक्षु रहते है।

देश की प्राकृतिक अवस्था के कारण तिब्बतियों का देश दूसरे देशों से अलग पड़ गया है। इस परिस्थिति का यहाँ के निवासियों पर जो प्रभाव पड़ा है, उससे वे स्वयं एकान्तप्रिय हो गये है। तिब्बती लोग शान्त और शिष्ट होते है। वे अपने रङ्ग में रँगे होते है। विदेशियों का सम्पर्क अच्छा नहीं समझते। अपने पुराने धर्म पर तो उनकी अगाध श्रद्धा है ही, साथ ही पुराने ढङ्ग से खेती-बारी तथा जरूरत भर का रोजी-धन्धा करके वे सन्तोष के साथ जीवन बिता देना ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। इस २०वीं सदी की सभ्यता से वे बहुत ही झिझकते हैं। यही कारण है कि वे विदेशियों को अपने देश में घुसने नहीं देते हैं। तो भी अतिथि-सत्कार में वे अद्वितीय हैं।

तिब्बती लोग चाय बहुत पीते है। नाचने-गानेका भी उन्हे बडा शौक है। पुरुष अधिक नाचते हैं, स्त्रियों में उसका उतना प्रचार नहीं है। यहाँ की स्त्रियों में भारत की तरह पर्दे का रिवाज नहीं है। वे रोजी-धन्धे करके धनोपार्जन भी करती हैं।

तिब्बत—विशेषकर ल्हासा की तरफवाले प्रदेश—में पहुँचना कितना

कठिन है, यह जिन्होंने तिब्बत-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों को देखा है, वे भली प्रकार जानते हैं। इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि भारत-सीमा को फागुन सुदी ६ को छोड़कर आषाढ़ सुदी त्रयोदशी को मैं ल्हासा पहुँच सका।

मेरी यह यात्रा भूगोल-सम्बन्धी अन्वेषण या मनोरंजन के लिए नहीं हुई है, बल्कि यह यहाँ साहित्य के अच्छे प्रकाश, अध्ययन तथा उससे भारतीय एवं बौद्ध-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा धार्मिक सामग्री एकत्र करने के लिए हुई है। इतिहास-प्रेमी जानते हैं कि सातवीं शताब्दी के नालन्दा के आचार्य शांतरक्षित से आरम्भ करके ग्यारहवीं शताब्दी के विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान के समय तक तिब्बत और भारत (उत्तरी भारत) का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। तिब्बत को साहित्यिक भाषा, अक्षर और धर्म देनेवाले भारतीय हैं। उन्होंने यहाँ आकार हजारों संस्कृत तथा कुछ हिन्दी के ग्रन्थों के भी भाषान्तर तिब्बती भाषा में किये। इन अनुवादों का अनुमान इसी से हो सकता है कि संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों के कंग्यूर और तंग्यूर के नाम से जो यहाँ दो संग्रह है, उनका परिमाण अनुष्टुप् श्लोकों में करने पर २० लाख से कम नहीं हो सकता। कंग्यूर मे उन ग्रंथों का संग्रह है, जिन्हे तिब्बती बौद्ध भगवान् बुद्ध का श्रीमुख वचन मानते हैं। यह मुख्यतः सूत्र, विनय और तन्त्र तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यह कंग्यूर १०० वेष्ठनों में बँधा है, इसीलिए कंग्यूर मे सौ पोथियाँ कही जाती हैं, यद्यपि ग्रन्थ अलग-अलग गिनने पर उनकी संख्या सात सौ से ऊपर पहुँचती है। कंग्यूर में कुछ ग्रन्थ संस्कृत से चीनी में होकर भी भोटिया में अनुवाद किये गये है। तंग्यूर में कंग्यूरस्थ कितने ही ग्रन्थों की टीकाओं अतिरिक्त दर्शन, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, तन्त्र-मन्त्र के कई सौ ग्रन्थ हैं। ये सभी संग्रह दो-सौ पोथियों मे बँधे हैं। इसी संग्रह में भारतीय दर्शन नभोमण्डल से प्रखर ज्योतिष्क आर्यदेव, दिङ्नाग, धर्मरक्षित, चन्द्रकीर्ति, शान्तरक्षित, कमल

शील आदि के मूल-ग्रन्थ, जो संस्कृति मे सदा के लिए विनष्ट हो चुके है शुद्ध तिब्बती अनुवाद मे सुरक्षित हैं। आचार्य चन्द्रगोमी का चान्द्र-व्याकरण सूत्र, धातु, उणादि पाठ, वृत्ति, टीका, पञ्चिका आदि के साथ विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त भोट भाषा में नागार्जुन, आर्यदेव, असङ्ग, वसुबन्धु, शान्तरक्षित, चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति, चन्द्रगोमी, कमलशील, दीपङ्कर, श्रीज्ञान आदि अनेक भारतीय पण्डितों के जीवन-चरित्र हैं। तारानाथ, बुतोन, पद्मकरपो, बेदुरिया सेरपो, कुन्ग्यल आदि के कितने ही छेजुङ (धर्मेतिहास) हैं, जिनमे भारतीय इतिहास के कितने ही ग्रन्थों पर प्रकाश पड़ता है। इन नम्थर (जीवनी), छेजुङ (धर्मेतिहास) कंग्यूर तंग्यूर के अतिरिक्त दूसरे भी सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनका यद्यपि भारतीय इतिहास से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तो भी वे सहायता पहुँचा सकते हैं।

भोट देश की विद्वन्मण्डली में जिन दो भारतीय आचार्यों का अधिक सम्मान है, वे शान्तरक्षित और दीपङ्कर श्रीज्ञान है। दीपङ्कर को तिब्बत मे अधिकतर अतिशा, जोवो (स्वामी) तथा जावो-जेद (स्वामी भट्टारक) कहते हैं। शान्तरक्षित और अतिशा दोनों ही सहोर प्रदेश के एक ही राजवंश में उत्पन्न हुए थे।

३१ वर्ष की आयु मे दीपङ्कर तीनों पिटकों तथा तन्त्र के पण्डित हो चुके थे; तो भी उनकी ज्ञानपिपासा शान्त न हुई थी। उन्होंने सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) के आचार्य धर्मपाल की प्रसिद्धि सुनी थी। महापण्डित रत्नाकर-शांति (शांतिपा, चौरासी सिद्धों में एक), ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति आदि उनके शिष्यों से वे मिले थे। अब उन्होंने स्वर्णद्वीपीय आचार्य के पास जाकर पढ़ने का निश्चय किया। तदनुसार बुद्धगया से विदा हो वे समुद्रतट पर पहुँचे और जहाज पर चढ़ अनेक विघ्न-बाधाओं के बाद १४ मास में सुवर्णद्वीप पहुँचे।

सुवर्णद्वीप के आचार्य के पास किसी का शीघ्र पहुँच जाना सहज बात नहीं थी, इसलिये दीपङ्कर एक वर्ष तक एकान्त जगह मे वास करते रहे।

बीच-बीच में कोई-कोई भिक्षु उनके पास आया-जाया करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता का पता लोगों को लग गया, और अन्त में बिना किसी रुकावट के वे सुवर्णद्वीपीय आचार्य के शिष्यों में दाखिल हो गये। आचार्य धर्मपाल के पास उन्होंने १२ वर्ष तक विद्याध्ययन किया। यहाँ विशेष करके उन्होंने दर्शन-ग्रन्थ पढ़े। 'अभिसमयालङ्कार' बोधिचर्य्यावतार को समाप्त कर उन्होंने दूसरे गम्भीर ग्रन्थ पढ़े।

तिब्बत-सम्राट् स्रोङ्-च्न्-गम्बो और ठिस्रोङ् दे च्न् तथा उनके वंशजों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म फैलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। अनुकूल परिस्थिति के न होने के कारण पीछे उन्हीं के वंशज ठि-थ्रिय-दे-जोमा-गोन् ल्हासा छोड़कर ङरी प्रदेश (मानसरोवर से लदाख की) सीमा तक में चले गये। वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। इन्हीं का पौत्र राजा ङ-दग्-खरि हुआ, जो अपने भतीजे ल्ह-लामा येशे ओ को राज्यभार सौंप अपने दोनों पुत्रों-देवराज तथा नागराज-के साथ भिक्षु हो गया।

भोट देश के वर्त्तमान चारों बौद्ध सम्प्रदाय आचार्य दीपङ्कर को एक सा पूजनीय मानते हैं। उनकी गोम् तोन द्वारा चली हुई तान्त्रिक परम्परा में ही चोङ्-खपा शिष्य हुए थे। ये वही चोङ्-खपा हैं, जिनके अनुयायी पीली टोपीवाले लामा भोट देश मे धर्म और राज्य दोनों के प्रधान हैं। ये लोग अपने को अतिशा का अनुयायी मानते हैं और अतिशा की शिष्य परम्परा का दम्-पा लोगों का उत्तराधिकारी अपने को नवीन का दम्-पा बतलाते हैं।

आचार्य दीपङ्कर की कृतियाँ मूल संस्कृत तथा मातृ-भाषा में लुप्त हो चुकी हैं, यद्यपि उनके अनुवाद अब भी तिब्बती तंग्यूर संग्रह मे सुरक्षित हैं। धर्म तथा दर्शन पर उन्होंने ३५ से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। उनके तान्त्रिक ग्रन्थों की संख्या सत्तर से अधिक है, यद्यपि इनमें देवता साधन के कितने ही बहुत छोटे-छोटे निबन्ध हैं।

बहुत से ग्रन्थों को तिब्बती भाषा मे उन्होंने अनूदित भी किया है। कंग्यूर संग्रह मे भिन्न-भिन्न लोचवों (दुभाषियों) की महायता से उनके ९ ग्रन्थ अनूदित हैं। तंज्यूर के सूत्र-विभाग मे उनके अनुवाद किये हुए २१ ग्रन्थ हैं, और रत्नविभाग में इनकी संख्या ३० से ऊपर है।

गृहस्थ और भिक्षु दोनों श्रेणियों के अनुसार तिब्बत मे शिक्षा का क्रम भी विभाजित है। भिक्षुओं की शिक्षा के लिए हजारों छोटे-बड़े मठ या विद्यालय हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ विद्यार्थी भी व्याकरण, साहित्य, वैद्यक और ज्योतिष की शिक्षा पाते है, लेकिन ऐसा प्रबन्ध कुछ धनी और प्रतिष्ठित वंशों तक ही परिमित है। हाँ, कितनी ही बार पढ़-लिख कर भिक्षु भी गृहस्थ हो जाते है और इस प्रकार गृहस्थ श्रेणी उनकी शिक्षा से लाभ उठाती है। मठों के पढे हुए भिक्षु गृहस्थों के बालकों के शिक्षक का काम भी करते है। किन्तु नियमानुसार धनी या गरीब गृहस्थ जन इन मठों से जिनमे कितने हो बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, प्रवेश नहीं पाते।

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, गृहस्थ छात्र मठीय विश्वविद्यालयों मे दाखिल नहीं हो सकते तो भी मठों के पढ़े छात्र घरों मे जाकर अध्यापन का कार्य कर सकते हैं। कोई भी गृहस्थ-छात्र इन विश्व-विद्यालयों मे पुस्तक तो पढ़ सकता है, किन्तु नियमानुसार छात्रावासों मे रहने के लिए स्थान नही पा सकता। इसलिए वे उनसे फायदा नही उठा सकते। बहुत ही कम ऐसा देखने मे आता है कि कोई उत्कृष्ट विद्वान् भिक्षु आश्रम छोड़कर गृहस्थ हो जाता हो, क्योंकि विश्वविद्यालयों और सरकारी नौकरियों में (जिनमे भिक्षुकों के लिए आधे स्थान सुरक्षित हैं) इनकी बड़ी माँग है। तिब्बत मे जिला मजिस्ट्रेट से लेकर सभी ऊँचे सरकारी पदोंपर जोड़े अफसर होते है, जिनमे एक अवश्य भिक्षु होता है। उदाहरणार्थ ल्हासा नगर के तार घर को ले लीजिए, जिसके दो अफसरों में एक मेरा मित्र कुशोतन्-दर् भिक्षु है। धनी खानदानों के बालक-बालिका अपने घर के लामा से लिखना-पढ़ना सीखते हैं। बालिकाओं

को इस आरम्भिक शिक्षा पर ही संतोष करना पड़ता है। हाँ भिक्षुणी होने की इच्छा होने पर कुछ और भी पढ़ती हैं। साधारण श्रेणी की स्त्रियों में लिखने-पढ़ने का अभाव-सा है। धनी लोग अपने लड़कों को पढ़ाने के लिए खास अध्यापक रखते हैं, लेकिन गरीबों के लड़के या तो अपने बड़ों से लिखना-पढ़ना सीखते है अथवा गाँव के मठ के भिक्षु से। ल्हासा और शी ग-र्चे जैसे कुछ नगरों में अध्यापकों ने अपने निजी विद्यालय खोल रखे हैं। इनमे लड़कों को कुछ शुल्क देना पड़ता है। यहाँ भी पढ़ने का क्रम भिक्षुकों जैसा ही है। हाँ यहाँ दर्शन और न्याय का बिल्कुल अभाव रहता है। ल्हासा मे अफसरों की शिक्षा के लिए चीखन् नामक एक विद्यालय है, जिसमें हिसाब- कताब और बहीखाता का ढङ्ग सिखलाया जाता है। इन्हीं विद्यालयों से सरकार अपने अफसर चुनती है। कई वर्ष पहले सरकार ने ग्यान-ची में एक अंग्रेजी स्कूल खोला था और उसमे बहुत से सरदारों ने अपने लड़के पढ़ने के लिए भेजे थे, किन्तु आरम्भ ही से मोटी-मोटी तनख्वाह से अंग्रेज तथा दूसरे अध्यापक नियुक्त किए गए, जिसके कारण सरकार उसे आगे न चला सकी। दो-चार विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए सरकार की ओर से इङ्गलेड भी भेजे गए। किन्तु उनकी शिक्षा आशानुरूप न हुई; इसलिए सरकार ने इस क्रम को भी बन्द कर दिया।

संक्षेप में तिब्बत में शिक्षा की अवस्था यह है। और बातों की तरह शिक्षा के विषय में बाहरी दुनिया का तिब्बत में बहुत कम असर पड़ा है। इसमें शक नहीं कि तिब्बत में वह सब मशीन मौजूद है जिससे नई जान डालकर तिब्बत को बहुत थोडे समय मे नये ढङ्ग से शिक्षित किया जा सके।

पूर्व में चीन की सीमा से पश्चिम में लद्दाख तक फैला हुआ तिब्बत देश है। यह चारों ओर पहाड़ों से घिरा और समुद्रतल से औसतन् बारह हजार फुट से अधिक ऊँचा है। इसी से यहाँ सर्दी बहुत पड़ती है। इस सर्दी की अधिकता तथा अधिक ऊँचाई से वायु के पतला होने

क कारण यहाँ वनस्पतियों की दरिद्रता है। सर्दी का कुछ अनुमान तो इससे ही हो जायगा कि मई और जून के गर्म महीनों मे भी ल्हासाको घेरनेवाले पर्वतों पर बर्फ अक्सर पड़ जाती है, जाड़े का तो कहना ही क्या ? हिमालय की विशाल दीवार मार्ग मे अवरोधक होने से भारतीय समुद्र से चली हुई मेघमाला स्वच्छन्दतापूर्वक यहाँ नही पहुँच सकती, यही कारण है जो यहाँ वृष्टि अधिक कहीं होती है, बर्फ ही ज्यादा पड़ती है। सर्दी हड्डी को छेदकर पार हो जा वाली है।

ऋतु की इतनी कठोरता के कारण मनुष्य को अधिक परिश्रमी और साहसी होना आवश्यक ही ठहरा। सिहल की भाँति एक सारोउ (तहमत, लुङ्गी) में तो यहाँ का काम नहीं चल सकता, यहाँ तो बारहों मास मोटी ऊनी पोशाक चाहिये। जाड़े में तो इससे भी काम नहीं चलने का। उस समय तो पोस्तीन आवश्यक होती है। साधारण लोग भेड़ की खाल की पोस्तीन बाल नीचे और चमड़ा ऊपर करके पहिनते हैं। धनी लोग जंगली भेड़ियों, लोमड़ी, नेवले तथा और जन्तुओं की खाल पहिनते हैं, जिसकी कीमत भी बहुत अधिक है। संक्षेपत: तिब्बती लोग मामूली कपड़ों में गुजर नही कर सकते। पैर में घुटनों तक का चमड़े और ऊन का बूट होता है, जिसे शोम्पा कहते हैं। उसके ऊपर पायजामा फिर लम्बा कोट (छुपा) और शिर पर फेल्ट का हैट। साधारण भोटियों की यही पोशाक है। हैट का रिवाज पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षों से ही है, किन्तु अब सार्वदेशिक है। बच्चा-बूढ़ा-जवान, धनी, गरीब, किसान, चरवाहा सभी बिना संकोच हैट लगाते हैं। यह फेल्ट हैट यहाँ कलकत्ते से आती है। फ्रांस, बेल्जियम आदि यूरोपीय देशों से लाखों पुरानी हैट धुल-धुलाकर कलकत्ता पहुँचती है और वहाँ से सस्ते दामों पर यहाँ पहुँच जाती है।

स्त्रियाँ भी शोम्पा पहिनती हैं। इनका छुपा बिना बाँह का होता है, जिसके नीचे चौड़ी बाहों वाली सूती या आसामी अण्डी की कमीज होती है। कमर से नीचे सामने की ओर एक चौकोर कपड़ा लटकता है

जो झाड़न का काम देता है। सिरको बहुत प्रयत्न से भूषित किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि भोटिया गृहस्थ की सम्पत्ति का अधिक भाग उसकी स्त्री के सिर में होता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सिर की पोशाक से यह भी आसानी से मालूम हो जा सकता है कि वह स्त्री तिब्बत के किस भाग की है। टशी लामा के प्रदेश की (जिसे चाङ कहते हैं) स्त्रियों के सिर का आभूषण धनुषाकार होता है। यह लकड़ी को नवाकर उस पर कपड़े लपेटकर बनाया जाता है। इसके ऊपर मूँगे और फ़िरोजों की कतार होती है। धनी स्त्रियाँ सच्चे मोतियों की सेलियो में इसके निचले भाग को घेर देती है। जेवरो मे फिरोजा और मूँगा का सबसे अधिक व्यवहार किया जाता है। ल्हासा की स्त्रियों का शिरोभूषण त्रिकोण होता है। इस पर मूँगों और फिरोजो की घनी कतार होती है और उसके ऊपर सच्चे मोतियों की पंक्तियाँ। इस त्रिकोण के नीचे बनावटी बाल खुले हुए कानों के ऊपर से पीठ के ऊपर लटकते रहते हैं। ये बाल चीन से आते हैं। इन पर पचास-पचास, सौ-सौ रुपये खर्च किये जाते हैं। ल्हासा और उसके आस-पास वाले अधिक सभ्य प्रदेश की स्त्रियाँ ही इस अधिक महत्वपूर्ण अलंकार से अपने को अलंकृत करती हैं। बालों से फिरोजे का कर्णभूषण लटकता रहता है। गले में फिरोजों से जड़ा हुआ चौकोर ताबीजदान होता है, जिसमे भूत-प्रेत से बचने के लिए यंत्र रहता है। इस तावीज के पास बाईं ओर कमर तक लटकती मोतियों की लड़ी होती है। मुसलमानों को छोड़कर सभी भोटिया दाहिने हाथ में शंख पहनते हैं। शंख मे हाथ जाने लायक रास्ता बना दिया जाता है, तो भी उसे शंख की चूड़ी नहीं कह सकते।

तिब्बत की विशेष पैदावार ऊन है। ऊन, कस्तूरी, फर (समूरी खाल) यहाँ से विदेशों को जाती है। ये चीजें विशेषकर भारत ही के रास्ते जाती है। गेहूँ बिना छिलके का, जौ, मटर, बकला, जई तथा सरसों भी काम लायक हो जाते हैं। फसल साल भर मे एक ही होती है, जो भिन्न-भिन्न ऊँचाई के अनुसार भिन्न-भिन्न समय मे

बोई जाती है। सितम्बर तक सभी जगह फसल कट जाती है। अक्तूबर में वृक्षों की पत्तियाँ पीली पड़कर गिरने लगती हैं, जो शरद ऋतु के आगमन की सूचना है।

गेहूँ काफी पैदा होने पर भी भोटिया लोग रोटी नहीं खाते। ये लोग गेहूँ, जौ भूनकर पीस लेते हैं। इसे चम्बा कहते हैं। राजा से लेकर भिखारी तक का यही प्रधान खाद्य है। नमक, मक्खन, मिश्री, गर्म चाय को प्याले में डालकर उसमे चम्बा रख हाथ से मिलाकर ये लोग खाते हैं। घरके हर एक आदमी का प्याला अलग अलग होता है, जो प्राय: लकड़ी का होता है। यह छोटा प्याला इनकी तश्तरी थाली, गिलास, सब कुछ है। खाने के बाद जीभ से इस प्याले को साफ कर छाती पर चोगे में डाल लेते हैं। हाथ, मुँह, देह धोना कभी ही कभी होता है। बिहारों के भिक्षुओं तक के हाथ मुँह पर मैल की मोटी तह जमी रहती है। तिब्बत में ऐसे आदमी आसानी से मिल सकते हैं, जिन्होंने जिन्दगी भर अपने शरीर पर पानी नहीं डाला। चाय और चम्बा के अतिरिक्त इनका प्रधान खाद्य माँस है। माँस तिब्बतियों का प्रधान खाद्य है। अधिकतर सूखा और कच्चा ही खाते हैं। मसाला डालना शहर के अमीरों का काम है, जिन पर चीनी और नेपाली अफसरों और सौदागरों का प्रभाव पड़ा है। ये लोग चीन वालों की भाँति दो लकड़ियों को खाते वक्त चम्मच की भाँति इस्तेमाल करते हैं। चीनियों से दो-एक तरह की आटे की चीज खाने के लिए भी इन लोगों ने सीखा है। चाय का खर्च सब से अधिक है। यह चीन से आती है, और जमाकर ईंट की शक्ल की बनी रहती है। यद्यपि भारत और लंका की चाय आसानी से जल्द पहुँच सकती है, तो भी तीन महीने चलकर चीनी चाय सस्ती पड़ती है। तिब्बती लोग दूध और चीनी डालकर चाय नहीं बनाते। चाय को सोडा और नमक के साथ पहले पानी में खूब खौलने दिया जाता है, फिर उसे काठ के लम्बे ऊखल में मक्खन डाल कर खूब मथा जाता है। इसके

वाद मक्खन मिल जाने पर चाय का रंग चाय सा हो जाता है। फिर इसे मिट्टी की चायदानियों में डालकर अँगीठी फर रख देते हैं। दुकानदार, अफसर, भिक्षु, सब के यहाँ चायदान में चाय बराबर तैयार रहती है। सूखा मांस, चाय या कच्ची शराब (छङ्) यह आगन्तुक के लिए पहली खातिर होती है। जौ को सड़ाकर घर-घर में छङ् बनती है। छोटे-छोटे बच्चे तक भी दिन मे कई बार छङ् पीते है। यद्यपि एक आध हजार को छोड़कर सभी भोटिये बौद्ध हैं, तो भी थोड़े से पीली टोपी वाले गोलुक्-पा भिक्षुकों को छोड़कर सभी भोटिया शराब पीने वाले है। इनकी पूजा शराब के बिना नही हो सकती ऊपोसथ, पञ्चशील, अष्टशील[1] जानते ही नहीं; गोलुक्-या भिक्षु भी पूजा के समय देवता के प्रसाद समझ कर अँगूठे की जड़ के गढ़े भर छङ् न पीने से देवता के क्रोधित होने का भय समझते हैं। दुनियाँ मे बहुत ही कम जातियाँ ऐसी शराब की आदी होंगी।

तिब्बत के ऊनी कपड़े मोटे, मजबूत और सुन्दर भी होते है। पुरानी चाल के अनुसार अभी तक ये लोग पतली पट्टियाँ ही बनाते है, चौड़े अर्ज के कपड़े नहीं बनते। बिना कुछ किये स्वभावत: ही यहाँ की ऊन बहुत नर्म होती है। यद्यपि हिन्दुस्तानी मिलों के लिए हर साल लाखों रुपये की ऊन भेजी जाने में कपड़ों की दर अधिक हो गयी है, तो भी अभी सस्तापन है। मोजे, दस्ताने, बनियान के बनाने का का रिवाज उतना नहीं है, यद्यपि नेपाली सौदागरों के संसर्ग से ल्हासा मे कुछ भद्दे-भद्दे ये भी बनने लगे हैं। भोटिया लोग शिक्षा और अन्य बातों मे चाहे कितने ही पिछड़े हों, कला-प्रेमी हैं। ल्हासा के परले प्रदेश मे अखरोट के पेड होते हैं। इनकी लकड़ी बहुत ही दृढ़ और साफ होती है। विहारों और मकानों मे इस पर की गई बारीक तथा सुन्दर कारीगरी को देखकर इनकी कलाविज्ञता का पता लगता है। सम्पूर्ण त्रिपिटक और अट्ठकथा से भी बड़े संग्रह अखरोट की तख्तियों पर खोदकर छापे जाते हैं। यहाँ की चित्रकला सेगिरिया

---

१. उपोसथ-व्रत; पंचशील हमारे पाँच नियमों की तरह हैं; अष्टशील श्रामणेरों (तरुण भिक्षुओं) के लिए होते हैं।

तथा अजिठा[२] की शुद्ध आर्य चित्रकला से अविच्छिन्नतया सम्बद्ध है। रंगों का समावेश तथा संमिश्रण बहुत सुन्दर रीति से होता है। विदेशी रंगों के प्रचाराधिक्य से अब वे उतने चिरस्थायी नहीं हो सकते। यह चित्रकला बौद्धधर्म के साथ-साथ भारत के नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों से यहाँ आयी है। इस कला मे भी रूढ़ि और नियमों के आधिक्य से अब यद्यपि उतनी सजीवता नहीं है, और न भोटिया चित्रकार दृश्यों के प्रति-चित्र तथा स्वच्छन्द कल्पित-प्रतिभा सम्पन्न चित्र ही बना सकते हैं, तो भी भारत और सिंहल की आधुनिक सामान्य चित्रकला से तुलना करने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ये लोग ऊपर हैं। सबसे बड़ी विशेषता यहाँ की चित्रकला की सार्वजनीनता है। धातु तथा मिट्टी की मूर्तियाँ अंगानुकूल सुन्दर बनती हैं। इन कलाओं को सीखने के लिए प्राचीन समय की भाँति ही शिष्य शिल्पाचार्यों के पास वर्षों सेवा-सुश्रूषा करके सीखते है। यद्यपि यहाँ की चित्र-कला का स्रोत उतना स्वच्छन्द और उन्मुक्त नहीं है, तो भी भारतवासी यदि अपनी कला को पुनरुज्जीवित करना चाहते है तो उन्हें यहाँ से बड़ी सहायता मिल सकती है।

घरों, मनुष्यों, कपड़ों के अत्यन्त मैले होने पर भी घरों और घर की वस्तुओं को सजाने मे उनकी रुचि भद्दी नहीं कही जा सकती। कपड़ों की झालरों में रंगों का उचित समावेश, छतों और खिड़कियों पर फूलों के गमलों की सुन्दर कतारें, खिड़कियों के कपड़े या कागज से ढँके जालीदार सुन्दर पल्ले, भीतरी दीवारों की रंग-बिरंगी रेखाएँ, फूल-पत्तियाँ, कपड़ों की छतें, चाय रखने की चौकियों की रँगाई और सुन्दर बनावट, चम्बा (सत्तू) दान की रंग-बिरंगी बनावट इत्यादि इनके कलाप्रेम को बतलाती हैं।

खाने मे माँस, मक्खन तथा पहिनने को ऊनी कपड़े ही भोटिया लोगों

---

२. प्राचीन भारत की अजिठा (अजन्ता की) गुहाओं की तरह सिंहल में सेगिरिया में पुराने चित्र हैं।

के लिए अधिक आवश्यक वस्तुएँ है। इसीलिए तिब्बती जीवन मे खेती से अधिक उपयोगी और आवश्यक पशु-पालन है। भेड़, बकरियाँ और चमरी (याक) ही यहाँ का सर्वस्व है। भेड से इन्हें माँस, कपड़ा मिलता है। बकरी से मांस और चमड़ा। भेड़, बकरियाँ इसके अतिरिक्त बोझ ढोने का भी काम देती हैं, खासकर दुर्गम स्थलों मे। चमरी से माँस, मक्खन, दूध मिलता है। इसके बड़े-बड़े काले बालों से खेमा और रस्सी बनायी जाती हैं। जूता, थैला आदि घर की सैकड़ों चीजों के लिए इसके चमड़े की आवश्यकता है। चमरी ठंडी जगहों मे ही रहना पसन्द करती है। मई, जून, जुलाई, अगस्त के महीने मे चरवाहे चमरियो को लेकर पहाड़ों के ऊपर चले जाते है। चमरी बोझा ढोने का भी काम देती है। अठारह-बीस हजार फुट की ऊँचाई पर जहाँ हवा के पतली होने से घोडों और खच्चरों का बोझा लेकर चलना बहुत मुश्किल होता है, चमरी भारी बोझा लिये बिना-प्रयास अपनी जातीय मन्द गति से चढ़ जाती है। दुर्गम पहाड़ों पर छिपकिली की भाँति इन्हे चढ़ते देख कर आश्चर्य होता है। तिब्बत में भेड़ों के बाद आवश्यक चीज चमरी है। खच्चर, घोड़े और गदहे भी यहाँ बहुत है। रेल, मोटर, बैलगाड़ियाँ तो यहाँ है नहीं, इसीलिए सभी चीजों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए इनकी बड़ी आवश्यकता है। घोड़े यद्यपि ठिगने होते है, पर पहाड़ी यात्रा के लिए ये अत्युपयोगी तथा देखने में तेज और सुन्दर होते है। खच्चर मंगोलिया और चीन के सीलिङ्ग प्रान्त से भी आता है। घरेलू जन्तुओं में कुत्तों का महत्व भी कम नही है। भेड़, बकरीवालों के लिए तो इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। बड़ी जाति के भोटिया कुत्ते अधिकांश काले होते है। आँखें इनकी नीली और भयंकर होती हैं। शरीर पर रीछ की तरह लम्बे-लम्बे बाल, जिनकी जड मे जाड़े मे पशम जम आती है। यह भेड़ियों से लम्बे-लम्बे होते है अनभ्यस्त यात्री के लिए ये सब से डर की बात है। ये कुत्ते बड़े ही

खूँखार होते हैं। एक ही कुत्ते के होने पर आदमी आनन्द से बेफिक्र सो सकता है। मजाल नहीं कि चोर या अपरिचित आदमी उधर कदम बढ़ा सके। तिब्बत मे आनेवाले को पहिला सबक कुत्तें से सावधानी का पढ़ना पड़ता है। भोटिया लोग हड्डी तक को कूट कर यागू बना डालते हैं, फिर कुत्तों को मांस कहाँ से मिल सकता है ? सबेरे शाम थोड़ा-सा चम्बा (सत्तू) पानी में घोल कर पिला देते हैं। बस इसी पर ये स्वामिभक्त कुत्ते लोहे की जंजीर मे बँधे पड़े रहते हैं। पिंजड़े से बाहर जंजीर में बँधे बाघ के समीप जाना जैसे मुश्किल मालूम होता है, वैसे ही यहाँ के कुत्तों से समीप जाना। इन बड़ी जाति के कुत्तों के अतिरिक्त छोटी जाति के भी दो तरह के कुत्ते हैं। इनमें ल्हासा के मुँह पर बाल और बेबालवाले छोटे कुत्तें बहुत ही सुन्दर और समझदार होते हैं। यहाँ दो-तीन रुपये में मिलने वाले कुत्तें दार्जिलिङ्ग में ६०, ७० रुपये तक बिक जाते हैं। ये छोटे कुत्ते अमीरों के ही पास अधिक रहते हैं, इसलिये इनकी आवभगत अधिक होती है।

—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

*

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

[जन्म सं० १९५१]

मध्यप्रदेश के खैरागढ़ राज्य में श्री पदुमलाल बख्शी का जन्म सं० १९५१ में हुआ। उनके पिता का नाम श्री पुन्नालाल बख्शी था और वे कवि भी थे। इस प्रकार बख्शी जी को प्रारम्भ से ही साहित्यिक वातावरण मिला। उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। विद्यार्थी-जीवन से ही उन्होंने साहित्य-रचना शुरू की। इस कारण ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीका ध्यान उनकी ओर गया। बख्शीजी की प्रतिभा से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इतने प्रभावित हुए कि जब उन्होंने 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण किया, तो 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य बख्शीजी के हाथों में दे दिया। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने सम्पादन काल में 'सरस्वती' द्वारा साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया।

सम्पादक के अलावा बख्शी जी कहानी-लेखक, कवि, समालोचक और निबन्धकार भी हैं। 'शतदल' उनकी कविताओं का संग्रह है और 'अश्रुदल' खण्ड काव्य। 'झलमला' और 'मंजरी' उनकी कहानियों के संग्रह हैं। 'विश्व-साहित्य' उनका आलोचना ग्रन्थ है। इनके अलावा 'बिखरे पन्ने', 'यात्री' और 'हिन्दी साहित्य विमर्श' उनके निबन्ध-संग्रह हैं।

साहित्य में बख्शी जी की पैठ और पकड़ बड़ी गहरी है। विषयप्र-तिपादन की उनकी अपनी शैली भी अलग है। वे कुशल शिल्पी की तरह विषय-वस्तु के मर्म को खोलते जाते हैं। उनके विषय-प्रतिपादन की शैली ऐसी है कि पाठक आसानी से उसे हृदयंगम कर लेता है। वह संक्षेप में विचारों को कसकर लिखने

में सिद्धहस्त हैं। व्याख्यात्मक और भावात्मक दोनों रूपों में वह लिखते हैं। उनकी भाषा प्रांजल किन्तु सहज होती है। प्रस्तुत निबन्ध में कुशलता के साथ भारतीय नाट्य साहित्य के मर्म को खोला गया है। ऐसे ढङ्ग से उन्होंने विवादास्पद बातों को भी रखा है कि फिर कहने को नहीं रह जाता। साथ ही साथ सहज भाव से उन्होंने आधुनिक-पाश्चात्य नाट्य शैली से उनकी तुलना भी की है, नाटक पर हिन्दी-साहित्य में यह एक श्रेष्ठ निबन्ध है।

———

नाटक

नाटक शब्द नट् धातु से बना है। नट् नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में नाटक को 'ड्रामा' कहते है। ड्रामा के लिये संस्कृत में नाटक की अपेक्षा 'रूपक' शब्द अधिक उपयुक्त हैं। ड्रामा का मूल शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते है, जिनमें अन्य लोगों के क्रियाकलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानो वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीजर के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानो वही जूलियस सीजर है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्यमात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी सम्भव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसी आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल रूप मनुष्यों के अन्तर्जगत् मे विद्यमान है। बाह्य जगत् मे उनका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है। इसी को 'अभिनय' कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत है। इसीलिए यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति

सभी में होती है, तथापि नाट्यकला में दक्ष होना सबके लिए सम्भव नहीं।

नाटक और नाट्य कला में परस्पर सम्बन्ध है। नाटक के लिए नाट्य कला आवश्यक है। परन्तु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अन्तःकरण में होती है। बाह्य जगत् में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्यकला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों मे की जाती है। उन्हें दृश्य काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंगभूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र चित्रण और व्यक्तित्व प्रदर्शन। नाटकों मे कवि का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि वह मानवजीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे, परन्तु यह विशेपता सिर्फ नाटकों मे ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास तीनों में ही मानव-चरित्र का चित्रण रहता है। पर इनमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्यों में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परन्तु उनमे चरित्रचित्रण गौण होता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इंदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिए है वैसे ही किसी अन्य प्रेमिक के लिए उपयुक्त हो सकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है। उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश्य था। इन्दुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसी का वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक म महाकाव्य और उपन्यास दोनों की विशेषताएँ रहती हैं। उसमे कवित्व भी होना चाहिये और मनोहरता भी। इसके लिए कुछ

नियम बनाये गये हैं। सब से पहिला नियम यह है कि उसमें आख्यान वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिये। उसी को परिस्फुट करने के लिए उसमे अन्य घटनाओं का समावेश करना चाहिये। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अन्त होना चाहिये। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनायें नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परन्तु उससे उनका सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिये।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों मे स्वाभाविकता को देखना चाहते हैं, उन्हें कदाचित् अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिन्दू नाटकों में अलौकिक घटनाएँ वर्णित है। उदाहरण के लिए अभिज्ञान शाकुन्तल को ही ले लीजिये। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त का स्मृति-भ्रम, शकुन्तला का अन्तर्धान होना, दुष्यन्त का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर नाटकों मे भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिन्दूमात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपीयर भी इस अदृश्य शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और निष्फलता के खंदक मे गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों मे करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय मे लोग प्रेतों पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ

चित्रण के पक्षपाती हैं उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता ।

नाटक की एक विशेषता और है । उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है । नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है । जीवन-स्रोत एक ओर बहता है । धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर लौट जाती है । फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है । नाटक मे मानव-जावन का एक रूप दिखलाना पड़ता है ।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया जाता है । मनुष्यों के अन्तःकरण मे सदा दो परम्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिडा रहता है । यह बात नही कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्यों मे ही युद्ध होता है, कभी-कभो सत्प्रवृत्ति भी एक दूसरे का विरोध करने लगतो है । भवभूति के उत्तर-रामचरित मे, रामचन्द्र के हृदय मे, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है । एक ओर राजा का कर्त्तव्य है, और दूसरो ओर पति का कर्त्तव्य । आधुनिक नाट्य साहित्य में इब्सन के एक नाटक "एन एनिमी आव दी पीपुल" मे एक मनुष्य संसार को कल्याण कामना से संसार के ही विरुद्ध लडा है। पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किए गये है—प्रसादांत और विषादांत । प्राचीन हिन्दूसाहित्य मे दुःखान्त नाटक एक भी नहीं है । हिन्दू नाट्य-शास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटको का अन्त दुःख मे न होना चाहिए । यदि नायक पुण्यात्मा है, तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता । पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिख-लानी चाहिये । अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्मिक न हो जायें । हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते, क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय देखी जाती है । यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता । यदि धर्म की अन्तिम जय देखने से लोग धार्मिक

हो जायें तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म का अनुसरण कहते हैं और सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं और असत्पथ पर विचरण करनेवाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिये धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं कल्याण की ओर जाता है। नाटकों मे धर्म की पराजय बतलाने से उसकी हीनता ही नहीं सूचित हो सकती। धर्म, धर्म ही रहता है, दुख और दारिद्रय की छाया मे रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी मे पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य मे दुखान्त नाटकों की रचना होने लगी है। इसमे सन्देह नहीं कि कमेडी की अपेक्षा ट्रैजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिए नाट्यशालाओं मे इनका अभिनय अधिक स्थायी होता है। परन्तु आजकल दुखान्त नाटकों का प्रचार कम हो रहा है। कुछ समय पहले इंग्लैण्ड मे म्युजिकल कमेडी का, जिसमे हँसी दिल्लगी और नाच गान की प्रधानता रहती है, खूब दौरदौरा रहा।

हिन्दू साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिये। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है, इससे नाटककार का कार्यक्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किन्तु हिन्दू साहित्य-शास्त्र मे नाटक के नायकों को दोषशून्य अंकित करने का जो विधान है, उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों मे राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाए गये हैं। नायकों के चार भेद किये गये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। इन नायकों में भिन्न-भिन्न गुणों का प्रदर्शन करते हैं। आधुनिक नाट्य-

साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मजदूर, कैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह वे देशकाल में आबद्ध होकर संकीर्ण विचारों के नहीं हो गए है। उनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आ गई है। पहिले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं मे देखते है। परन्तु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये ही हमे 'रोमियो जूलियट' अथवा एन्टोनी क्लियोपेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौंदर्य वृत्ति भी है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्मबोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान नहीं है, वह बड़ा जटिल हो गया है। 'क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट' नामक उपन्यास मे एक खूनी का चरित्र अंकित किया गया है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता है कि वह खूनी दानव है या देवता, उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें, तो भी हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जार्ज मेरिडिथ के 'दी इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर मे उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घरे बाहिरे' नामक उपन्यास मे संदीप जैसा इन्द्रियपरायण है, वैसा ही स्वदेशवत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटरलिंक अथवा रवीन्द्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए है कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं परन्तु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

अंग्रेजी नाटककार बर्नार्डशा के आते ही इंगलैण्ड की रंगभूमि पर मनोविज्ञान की छाया पड़ने लगी है। समालोचक तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्याएँ हों, जिनका अन्तर्गत भाव देखने के लिए उन्हें छिन्न-भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिये और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति खूब फैलायी। बर्नार्ड का नाम पहले पहल उनके श्रव्य काव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने दृश्य काव्यों में मन लगाया। युद्ध के पहले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिये १९१४ में इंगलैण्ड में एक ऐसी नाट्यशाला स्थापित हुई, जिनमें मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। उसका अभी शैशवकाल है, तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमे अधिक सजीवता आ गई है। युद्ध के पहिले नाट्य-साहित्य का यही हाल था।

नाटक सभी काल और सभी देशों मे लोकप्रिय होते हैं। कालिदास का कथन है 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।' अब तो नाटक जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण और भी अधिक लोकप्रिय हो गए है। लन्दन आधुनिक सभ्यता का एक केन्द्र है। वहाँ सैकड़ों नाट्यशालाएँ है। हजारों लोगों का जीवन-निर्वाह उसी से होता है। सभी नाटक घर सभी समय भरे रहते है। कुछ ऐसी नाट्यशालाएँ है, जहाँ दिन और रात मे दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं-कही तो एक ही नाटक दो वर्ष तक खेला जाता है।

कभी हमारे देश मे नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने-वाले नटों और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्च कुल के स्त्री पुरुष भी नाट्यकला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते थे। उन्हे अभिनय कला की शिक्षा देने के लिए योग्य शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटककला का पुनरुद्धार हो रहा है।

जिन्होने दूसरे देश में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं, तब यहाँ की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहाँ विदेशी दृश्यों की नकल अवश्य की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढंगा रहता है कि योरोप की छोटी-छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढंगी चीजें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिए पर्दे रँगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं। परन्तु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञानता के कारण जनता उन्हीं से सन्तुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेष-भूषा। जो लोग राजा, सामन्त, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों मे कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गये होंगे। गनीमत यही है कि स्त्री पात्रों मे भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिये भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगाकर निकलते है। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे मे सफेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यो की जाती है।

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिल्कुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्व घट जाता है और उनका उद्देश्य निष्फल हो जाता है। इन दोषो को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों मे जिस युग का वर्णन है उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाये जायें। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिल्कुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथाभाग सुनकर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना कर ले। प्राचीन काल मे जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिए उचित वेषभूषा तैयार करने के लिये योग्यता की जरूरत नहीं है। जरा भी बुद्धि से काम लेने

से यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिए कौन सा परिच्छद प्रयुक्त है। परन्तु आजकल तो सभी नाटक मंडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेज पहनाकर, कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नकली दाढ़ी और मूँछ से चेहरे को विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें।

हिन्दी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी है क वे मौके-बेमौके अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते है। राजा की कौन कहे, राजमहर्षि तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने गाने लग जाते है। राजसभा तो बिल्कुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

डा० धीरेन्द्र वर्मा

डा० धीरेन्द्र वर्मा का जन्म वैशाखी पूर्णिमा सं० १९५४ को बरेली में हुआ। उनके पिता का नाम श्री खानचन्द है। वर्माजी की शिक्षा देहरादून, लखनऊ और इलाहाबाद में हुई है। प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत लेकर उन्होंने १९२१ में एम० ए० पास किया। सन् १९२४ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय में जब हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हुई तब आप हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बनाये गए। सन् १९३५ ई० में पेरिस विश्व-विद्यालय से 'ब्रजभाषा—वैज्ञानिक अध्ययन" पर डाक्टर आव-लिटरेचर की उपाधि प्राप्त की।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं—१—हिन्दी भाषा का इतिहास, २—हिन्दी भाषा और लिपि, ३—ग्रामीण हिन्दी, ४—ब्रजभाषा व्याकरण, ५—हिन्दी राष्ट्र, ६—अष्टछाप, ७—विचार धारा, ८—योरुप के पत्र, ९—वाल्मीकि रामायण सार, १०—ल लांग ब्रिज (फ्रेंच)

डा० धीरेन्द्र वर्मा गम्भीर विषयों पर भी बहुत सहज भाषा में लिखते हैं। पर उनमें पंडिताऊन नहीं होता। आपकी दृष्टि विषयों को बोधगम्य बनाने की ओर रहती है। आपकी शैली विवेचनात्मक है। वैज्ञानिक पद्धति से आप विषय का विश्लेषण करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध "मध्य प्रदेशीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य" भाषा और शैली की दृष्टि से वर्मा जी के गद्य का सुन्दर उदाहरण है। सहज भाषा और सुबोध शैली में यहाँ संस्कृति जैसे गम्भीर विषय को स्पष्ट किया गया है।

मध्यप्रदेशीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है । साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेजी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालों को उन भाषा-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिन्दी साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। हिन्दी साहित्य के ठीक अध्ययन के लिए भी हिन्दी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठया जा सकता है कि क्या हिन्दी-भाषियों की संस्कृति भारतीय-संस्कृति से कोई पृथक् वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर मे यह निसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष को; व्यापक संस्कृति मे सन्निहित होने पर भी समस्त प्रधान अंगों में हिन्दी के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय एकता अनेकरूपता बराबर छिपी रहती है। संपूर्ण भारतवर्ष को एक महाद्वीप अथवा राष्ट्रसंघ की संज्ञा देना ही उपयुक्त होगा। इस राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कई राष्ट्र हैं। जिनमे से प्रत्येक का पृथक् व्यक्तित्व है। इस पार्थक्य का प्रभाव इन राष्ट्रों की संस्कृति—जैसे भाषा एवं साहित्य आदि—पर समुचित रूप से पड़ा है। धर्म के व्यवहारिक रूप भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में संस्कृति का यह भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ बंगाल और संयुक्तप्रान्त की संस्कृति का मूल स्रोत यद्यपि एक ही

है; बंगाली तथा हिन्दी-भाषी दोनों भारतीय है, किन्तु बंगाल मे दुर्गा अथवा शक्ति की ओर संयुक्त प्रान्त में राम-कृष्ण की ही उपासना का प्राधान्य है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मूल में एकता होने पर भी व्यवहार में पार्थक्य है। यह पार्थक्य राष्ट्रीय जीवन के अंगों में भी दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी आज सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो रही है, विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र इसे स्वीकार कर चुके है, किन्तु फिर भी ठाकुर महोदय ने अपनी समस्त साहित्यिक कृतियाँ बँगला एवं महात्माजी ने गुजराती में लिखीं, हिन्दी मे नहीं। जिस प्रकार व्यापक दृष्टि से समस्त योरोप की एक संस्कृति है, किन्तु साथ ही फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि अनेक राष्ट्र हैं जिनकी अलग-अलग संस्कृति सम्बन्धी विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार इस भारतीय महाद्वीप मे भी बगाल, गुजरात, आंध्र, महाराष्ट्र आदि प्रान्त संज्ञक अनेक राष्ट्र है जो संस्कृति की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इसी भाँति हिन्दी-भाषियों की भी एक पृथक् संस्कृति है। उसी संस्कृति पर यहाँ संक्षेप में कुछ विचार प्रकट किये जायेंगे। इस लेख मे सुविधा के लिये हिन्दी-भाषियों के लिये हिन्दी-भाषी प्रदेश के लिये हिन्द या मध्य देश शब्द का प्रयोग किया गया है।

सबसे पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है? अतीत वर्षो में भारतवर्ष को राजभाषा अंग्रेजी रही। मुगल काल में फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अंग्रेजी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्रभाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है। जब से भारतवर्ष में व्यापक राष्ट्रीयता आन्दोलन प्रचलित हुआ है तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा अथवा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के स्थान के लिए निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बङ्गाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बङ्गाली, मराठी

और गुजराती आदि में ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही है। ये भाषाएँ अपने-अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राजभाषा, राष्ट्र तथा साहित्य भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुई। साहित्यिक भाषा ही किसी की असली भाषा कही जा सकती है, राजभाषा या राष्ट्रभाषा नहीं। अस्तु, वास्तव मे उन्हीं प्रदेशों को हिन्दी-भाषी की संज्ञा से सम्बोधित करना चाहिए जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी मे करते हैं, तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। भारत के मानचित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उत्तरप्रदेश, दिल्ली (हिन्द), मध्यप्रान्त, राजपुताना, बिहार तथा मध्यभारत की देशी रियासतों का भूमिभाग ही इसके अन्तर्गत आ सकता है। इसी को हम हिन्द प्रदेश या प्राचीन परिभाषा मे मध्यप्रदेश कह सकते है। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों में हिन्दी का साहित्यिक भाषा के रूप में मानने के सम्बन्ध में जब-तब विरोध सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—बिहार प्रान्त में मैथिली पंडितों का एक दल मैथिली को, राजपुताना के मारवाड प्रान्त के कुछ विद्वान् डिङ्गल को ही उस क्षेत्र की साहित्यिक-भाषा के लिये उपयुक्त समझने लगे है। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है, किन्तु यदि ये प्रदेश हिन्दी के साहित्यिक प्रभाव के क्षेत्र से अलग भी हो जायें तो भी हिन्द या मध्यप्रदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यप्रदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमे यह देखना है 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं ? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित चार बातों का समावेश किया जा सकता है—१. धर्म, २. साहित्य, ३. राजनीतिक परिस्थिति तथा ४. सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ है जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा कला आदि का भी समावेश हो सकता है।

हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्य-प्रदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप मे ही उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक। आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिये। मध्ययुग का समय वि० सं० १ से १८०० सवत् तक समझना चाहिये और प्राचीन युग का विक्रमी संवत् के आरम्भ से १२०० वर्ष पूर्व तक। प्राचीन युग का एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे भी पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घ काल के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले हो कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्य-देश का इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृति का यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति को ही यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजु, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा निषदों आदि की रचनाएँ भी यहीं हुई। इसके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियाँ आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई, जिसके फलस्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुए थे। इस सुधार आन्दोलनों के साथ-साथ उस समय एक 'वासुदेव सुधार' आन्दोलन भी प्रचलित हुआ जिसने बाद को वैष्णव धर्म का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि इस काल मे उपासना के क्षेत्र मे प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों मे परमसत्ता को देखने की ओर ही हम आर्यों का विशेष लक्ष्य था। इस काल में मंदिर आदि पूजा स्थानों का अभाव था। उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन कर आर्य ऋषि आनन्द विभोर हो उठते थे, जिसके फलस्वरूप उषा के स्तवन मे अनेक ऋचाएँ उनके गद्गद् कंठ से निःसृत हुई। इसके पश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया, जिसमें धीरे-धीरे कर्मकांड और पशुबलि की प्रधानता हो गई। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के आन्दोलन ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेव-सुधार सम्मिलित है—यज्ञकार्य के कर्मकांड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्यकाल मे अनेक पुराणों की विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, श्रीमद्भागवत इत्यादि की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इस देवत्रयी की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब इस पौराणिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपासना अनिवार्य हो उठी। तांत्रिक युग में काली रूप में इन्हीं उमा का दर्शन होता है। पन्द्रहवी सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद की प्रचण्ड लहर लगभग समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है। सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं मे विभक्त हो गई।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के सम्मुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु होती है। किन्तु यह आयु लगभग ५०-६० वर्ष की न होकर पाँच छः सौ वर्षों की होती है। एक प्रधान लक्षण जो आधुनिक संस्कृति में दिखाई पड़ता है वह है एक बार फिर सुधार की ओर सुझाव। आर्य समाज

के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से प्राचीन आर्यधर्म का एक परिष्कृत रूप मध्य देश की जनता के सामने आ चुका है। हिन्दी साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ना है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह बात विदित होगी कि हिन्दी साहित्य का एक चरण मध्ययुग मे तथा दूसरा चरण आधुनिक युग में है। एक ओर यदि रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त, सवैयों में रचना हो रही है तो दूसरी ओर छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप मे काव्य की नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश, काल तथा परिस्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों मे हम लोग मध्ययुग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाये है।

विश्लेषणात्मक ढंग से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह बात विदित होती है कि हिन्दी साहित्य पर वैदिक काल का प्रभाव नहीं के बराबर है। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अनेक स्थानों पर वेद की दुहाई दी है, किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नहीं कि गोस्वामी जी संहिताओं से विशेष परिचत नहीं थे। कम से कम इसका कोई भी निश्चित प्रमाण उनकी रचनाओं से उपलब्ध नहीं होता।

वासुदेव सुधार की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वास्तव मे वैष्णव धर्म तथा बाद के भक्ति-संप्रदायों का मूल स्रोत यही था। हिन्दी साहित्य का इस भक्ति-सम्प्रदाय से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हमारा प्रचीन हिन्दी साहित्य एक प्रकार से धार्मिक साहित्य है। इसमें शिव का रूप गौण है। प्रधान रूप से विष्णु का रूप ही भक्ति के लिये उपयुक्त समझा गया। अतएव राम तथा कृष्ण के अवतारों के रूप में विष्णु का प्राधान्य मिलता है। यद्यपि संहिता तथा उपनिषदों तक में भक्ति की चर्चा मिलती है, किन्तु इसका विशेष विकास तो पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में हो हो सका।

आधुनिक युग मे धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है अतएव आधुनिक हिन्दी साहित्य मे धार्मिकता का विशेष पुट नहीं है। आजकल हिन्दी मे रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों मे कहीं ईश्वर की सत्ता है भी तो निर्गुण रूप में ही है। इधर कवीन्द्र रवीन्द्र पर कबीर की गहरी छाप पडी हुई है। इस प्रकार धर्म के विषय मे हम इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति धारायें ही प्रधानतया हिन्दी-कवियों के सन्मुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावो के सम्बन्ध मे पाते हैं लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र मे भी पाई जाती है। वैदिक साहित्य का हिन्दी साहित्य पर कुछ प्रभाव नहीं है। शैली, छन्द तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पौराणिक साहित्य से हिन्दी साहित्य अवश्य प्रभावित हुआ है। पुराणों में भी श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिन्दी साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण काव्य सम्बन्धी अनेक आख्यान संस्कृत इतिहास और पुराणों से हिन्दी साहित्य मे लिये गये हैं।

संस्कृत साहित्य का मध्य युग वास्तव मे महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खंडकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुई। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी के महाकाव्यों मे मानव जीवन की उस अनेकरूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक रूप में वर्त्तमान है। केशव की रामचन्द्रिका लक्षणग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है, किन्तु उसमे जीवन की वे परिस्थियाँ कहाँ जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति ग्रन्थों का भी हिन्दी ग्रन्थों पर

पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी के कई रीति ग्रन्थ तो संस्कृत काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के केवल रूपान्तर मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग में प्राय: अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिन्दी में आरम्भ हो चुका है, किन्तु मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिन्दी के कई नाटकों पर द्विजेन्द्रलाल राय की शैली की स्पष्ट छाप है। बर्नार्डशा जैसे अंग्रेजी के आधुनिक नाट्यकारों का अनुकरण भी दिन-दिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाटक तेजी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक पैर अभी तक मध्ययुग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्यग्रन्थों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक ब्रजभाषा के अधिकांश काव्यग्रन्थों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है, रीति ग्रन्थों का लोप नहीं हुआ। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रसकलस' के रूप में इस विषय पर एक बृहत् ग्रन्थ हिन्दी साहित्यिकों के लिये प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्य का अध्ययन करनेवालों को एक बात विशेषरूप से खटकती है और वह है राजनीति तथा समाज की ओर कवियों को उपेक्षावृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना मे तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्र की अभिव्यंजना रहती है। किन्तु जब हम इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य, विशेष पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ-कुछ पहले भी थी और आज भी कायम है। सूरदास, नन्ददास आदि कृष्णभक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानों इन्हें देश, जाति, समाज

से कोई वास्ता ही न था। मथुरा, वृन्दावन आगरे के अत्यन्त समीप है, किन्तु देश की राजनीतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचनाओं पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। यह हिन्दुओं तथा हिन्दी-साहित्य दोनों के लिये दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी साहित्य का अनुशीलन करते है तो उसमें देश-प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राजनीतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिन्दी के मध्ययुग मे लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि है, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है। आज भी हिन्दी के ललित साहित्य मे राजनीति तथा समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अंग पर अब कुछ प्रकाश पडने लगा है, किन्तु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसके लिए देश की वर्त्तमान परिस्थिति को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं हो सकते। किसी भी देश के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश की संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय।

हिन्दी साहित्य मे आगे चलकर कौन विचारधारा प्रधान रूप से प्रवाहित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वर्तमान अवस्था में परिवर्त्तन होगा, देश में प्राचीन संस्कृति की नींव अभी गहरी है। अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आवश्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन निर्माण करें।

—डा० धीरेन्द्र शर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६२ में हुआ। उनके पिता का नाम गोविन्द प्रसाद वर्मा है। वर्मा जी ने बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत के अनेक स्थानों मे अध्यापक का काम किया। विश्व-विद्यालय से संस्कृत लेकर सन् १९३२ई० मे एम० ए० किया। इस समय तक वह कवयित्री के रूप मे हिन्दी जगत् मे आ चुकी थीं। इसके बाद वह प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिन्सिपल हो गईं। महादेवी जी ने संस्कृत, पालि, हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है।

महादेवी जी मूलत: कवि है। पर कविता तक ही उनकी प्रतिभा सीमित नहीं है। वह चित्रकार भी हैं, किन्तु उनकी तूलिका में काव्यगत भावावेग की प्रधानता है। उन्होंने कुछ दिनो तक "चाँद" नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया था। उन्होंने कुछ वैदिक ऋचाओं, बुद्ध वचनों और संस्कृत के काव्यों का सुन्दर पद्यानुवाद भी किया है। महादेवी के पाँच काव्य ग्रन्थ हैं — नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत और दीपशिखा। उनके तीन गद्य ग्रन्थ भी हैं—अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ और शृंखला की कड़ियाँ। उनकी भाषा मे संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक आते हैं। पर वे शब्द एक अनूठे ढङ्ग से आकर अनुकूल वातावरण की सृष्टि करते हुए भावनाओं को मधुर बना देते है। उन्होंने भावनात्मक और विचारात्मक दोनों शैलियों मे गद्य का निर्माण किया है। 'अतीत के चलचित्र' मे संस्मरण हैं, पर उसमें भावनाओं द्वारा विचारों को उत्तेजना मिलती है—बहुत कुछ सोचने के लिए पाठक बाध्य हो जाता है। प्रस्तुत गद्य उसके संस्मरण का एक उदाहरण है। इसमें चित्रात्मकता भी है, काव्य भी है और वर्णन भी है

रामा

रामा हमारे यहाँ कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधता भरी मेज से परिचित थे जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे जिनका भोग अपने मुँह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आँखें मींचकर बगुले के मनोयोग से घण्टी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीर वाले रामा के बड़े नखों से लम्बी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसीउँगलियोंवाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से सोने के समय तक हमारा उनसे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान सँभालते हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गये थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानों पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों मे एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास स्पष्ट ही से स्पष्टतर होने लगती है, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जानेवाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढँक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी-कभी स्मृति-पट पर अंकित हो जाती है और धुँधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी भरकर भूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली मे दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है।

रामा के बालों को आध इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था, इसी से उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिये घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी, क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है; पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता मे उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं, वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष-घृणा आदि के धूम से जीवन ढँका रहता है वहाँ वह बाह्य सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमें बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था, तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता। उसके पास सजने की उपयुक्त

सामग्री का अभाव नहीं था, क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखंड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाहों में लाठी को अटकाकर खिलाने का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूँटी से उतार कर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनाने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज मे डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे। पर रामा अपने अँधेरे के दुर्ग के चर्रमर्र मे डाटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके, वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी, पापड़ आदि के अक्षयकोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहरी पर बैठकर किवाड से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा रामा तो भूखन के मारे जो चलो'—कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गई, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमे उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर माँगता-माँगता इन्दौर तक जा पहुँचा, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठे तो आश्चर्य क्या।

उस दिन जब संध्या समय बाबूजी लौटे तब लकड़ी रखने की

कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे, दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी, और हाथ मुँह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का अपने कर्त्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गए। हँसते-हँसते पूछा, 'यह किस लोक का जीव ले आए हैं, धर्मराज जी ?' माँ के कारण हमारा घर अच्छा खासा जू (चिड़ियाघर) बना रहता था। बाबूजी जब लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान मे भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खंजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मणी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, पर उन्हें चिढ़ाने मे वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षणभर की अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता मे कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, 'मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।'

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षणभर विश्राम नहीं करता वह अपने लिये नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हसते बुरा हाल हो गया। विनोद से कहा, ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें ऐसे खास साँचे में ढले सेवक ही तो धर्मराज जी की सेवा में रह सकते हैं।'

उन्हें अज्ञात-कुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योंकि वे किसी की पात्रता-अपात्रता का माप-दण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानभूति ने जिस सरल हृदय को परख

लिया, उसमें अक्षय सौंदर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया; पर उसका कर्त्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध मे उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए नितान्त आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस मे लगे दानवों के समान हम माँ के सभी महान् अनुष्ठानों मे बाधा डालने की ताक मे मँडराते रहते थे, इसी से वे रामा को हम विद्रोहियों को वश मे रखने का गुरु कर्त्तव्य सौंपकर कुछ निश्चिन्त हो सकीं।

रामा सबेरे ही पूजा-घर साफ कर वहाँ के बर्त्तनों को नीबू से चमका देता। तब वह हमे उठाने आता। उस बड़े पलंग पर सबेरे तक हमारे सिर पैर की दिशा और स्थितियों मे न जाने कितने उलट फेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाँव नापता रहता था। किसी के हाथ पर किसी का सर्वांग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसी की पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्मवेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसी को गोद के रथ, किसी को कंधे के घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुख-प्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था; क्योंकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामंत्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हें बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोलकर बोल उठता, "लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो?" 'र' कहने मे भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ को चक्रव्यूह जैसी उँगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओंवाली हथेली सुदर्शनचक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजस्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे मैं साम-दाम-दंड-भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को संतुष्ट करने का अमोघ मंत्र जानता था। वह मेरे कान मे हौले से कहता, "तुमई बड़े राजा हौ जू, नन्हे नइयाँ" और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता, क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्हीं उँगली डालकर दाँतों के स्थान में ओठे माँजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, उसीसे मैं उसे ऐसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति मे प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँदकर कौवे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख मूँदते, वैसे ही किसी के मुँह में अंगूर, किसी के दाँतों में बिस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था;

क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली-मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौवे की काली, कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौवे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाए रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा मे अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़े, उडनखटोले आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख-जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमे स्वप्न के द्वार तक पहुँचा जाना रामा का ही कर्त्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उसपर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त माँ से हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कन्धे पर बैठाया और दूसर को गोद मे लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा, "उँगरियाँ जिन छोड़ियो राजा भइया।" सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया "क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।" बूढ़े हलवाई ने

धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा। "कैसा है तुम्हारा रामा ?" मैंने ओठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा, "बहुत अच्छा है।" इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था, यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी; परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था, इसी से दूकान के एक कोने मे बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिले मिठाईरूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान् यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढते-ढूँढते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजयगर्व से फूलकर कहा, "तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो, रामा !" रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अंग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश मे छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है; पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्यभरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहाँ से कौन सी पराई चीज लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें इसी चिन्ता मे हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था। हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुँडेर मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन में लगे फूल पराई वस्तु की परिभाषा में आ सकते है, यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए, उस आकाश-मार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के जीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुतिया नन्हें-नन्हे बच्चे लिये बैठी थी, जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय बदलना पड़ा ; पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया, त्योंही वह निरीह-सी माता अपन इच्छाभरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाववाले गृहस्वामी निकल आए और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनो दौड़ पड़ीं तब हम बड़े असमञ्जस मे पड़ गये। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाता है, यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया। कहा, "हम छत की राह से फूल चुराने आये है।" गृहस्वामी हँस पड़े। पूछा, "लेते क्यों नहीं ?" उत्तर और भी गम्भीर मिला, "अब कुतिया का पिल्ला चुरायेंगे।" पिल्ले को दबाये हुए जबतक हम उचित मार्ग से लौटे तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेश-रूपो अमृतवृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़कर अधर में उठाते हुए पूछा, "कहो जू, कहो जू किते गए रहे ?" पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था, इसीसे दाँतों से ओठ दबाकर मैने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, "रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये है, और बड़े भी। अब डाक्टर को बुलाकर इन्हें टीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी में बन्द कर दो।" वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था, इसलिए उसे बच्चों से

दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच बहुत लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था, उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी सन्ध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा में बाहर बैठा देखकर मैंने, 'गीत सुनाओ' कहकर संधि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था—'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो' और उसे वह जिस प्रकार गाता था, उससे पेड़ पर के चिड़िया-कौवे तक उड़ सकते थे, परन्तु हम लोग इस अपूर्व गायक के अद्‌भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसीसे रामा का उसमे विशेष महत्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नही होती थी। आँगन मे गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बड़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा मे बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिये कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारों से नोरव बाजेवालों को बिदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल मे कब ऐसा हुआ, यह तो पता नहीं, पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नही पधारी तब चिन्ता होने लगी; क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता, वैसे ही बिना कन्या के कन्यादान का महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित

करने के लिए अपना फारसी-ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूँढ़ लाये, जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा मोटा घर का काम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, 'आ' पर ऊँगली रखकर आदमी के स्थान में आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मुझे अपने भाई-बहनों कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूँढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी। और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पढ़ता था। नन्हें बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा "बन्दर नाच दिखाने आया।' मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया, "रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तो भागी आवे।" वे बेचारे मेरे शास्त्र ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे; क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूँढ़ लेने का साधन उनके पास नहीं था, पर अक्षरज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा-कहानी-कहावत आदि का जैसा बृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसीसे जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरंत संधि करा देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवी साहब, संगीत-शिक्षक और ड्राइंग मास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाबे में छिपकर बैठना पड़ा।

अभाग्य से झाबा वही था जिसमें बाबा के भेजे ग्रामों में से दो-चार शेष भी थे। उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गई। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अन्त मे रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंग मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही; क्योंकि वे खेलने से रोकते ही नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मै रामा का चित्र बना देती थी। जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे मे कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन संगीत सीखने के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता किया कि मै रामा से सीखती हूँ। जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया जब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब १०-१५ दिन के लिए नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबूजी को देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा से हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत न होते। अतः वे भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवा-परायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह शेष को लेकर ऊपर के खण्ड मे इस तरह रहा कि हमे भाई का

स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्थावाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है, मेरे कान से कहानीवाला मेढ़क निकलेगा।" वह बेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गर्म टुकड़े को गीले कपड़े मे लपेटकर उसे कितना सेंका, यह बताना कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या बड़बड़ाता रहता था जिसमे कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान् का नाम सुनाई दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं। तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गई, पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गई और वह बहुत बीमार रहा, पर उसे सन्तोष था कि मै सब कष्टों से बच गई। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आए, धँसी आँखें उत्साह मे तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। माँ ने कहा, 'तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवन भर पछतावा रह जाता।" उत्तर में रामा बड़े

हुए नाखूनवाले हाथ से माँ के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब माँ प्रायः कहने लगी, "रामा अब तुम घर बसा लो जिससे अपने बाल-बच्चों का सब सुख देख सको।"

"माई की बातें! मोय नासपीटे अपनन खौं का कनने है, मोरे राजा हरे बने रहे—जेई अपने रामा को नैया पार लगा देहें!"—यही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चो का लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नही हो गये थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्दी के रूप मे भी पहचान गए थे। हमे विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी 'नासपीटा', 'मुँहझौंसा' आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी-जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन मे आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गए; क्योंकि ऐसी सज-धज मे तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह-भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटन जा रहे हो रामा?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, 'हाँ राजा भइया, ऐसी देहों नासपीटन के।" पर रामा चल गया और न जाने कितने दिनों तक हमे कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सबेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती मे सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और 'राजा भइया, राजा भइया,' पुकारने लगा। हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े, पर बरामदे मे ही सहम कर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ मे चूड़े और पाँव मे पैजामा पहने जो घूँघटवाली स्त्री खड़ी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आँखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगीं। नन्हें जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा तब घूँघट मे छिपे सिर मे एक निषेधसूचक कंपन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गई। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गए और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ती गई। हमारे खिलौने के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मयदानव भी; पर अब वह अपने गुरु कर्त्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं, गुड्डे-गुड्डियों का भी दम घुटने लगता था। इसीसे एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिये, अतः मैं मेज पर चढ़कर धरती तक न पहुँचनेवाले पैर हिलाती हुई विराजी। मंत्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापति जी स्टूल पर जमे। तब राजा ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, "रामा इसे क्यों लाया है ?" और सेनापति 'स' न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिये आँखें तरेरते हुए बोले "छच है, इछे कौं लाया है ?"

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा के रक्षार्थ दण्ड मिलना ही चाहिये। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हें बाबू चुपके से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से

उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे, पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न संधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध मे और अधिक दृढ़ हो गयी और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त मे विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे! फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर-प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था। रामा पत्नी को हमारे पुराने खिलौनो के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्त्तव्य-ज्ञान-सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी मे मिलती है जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनो के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। माँ ने रुपये भेजे, आने के लिये पत्र लिखा, पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हें बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़नेवाला घोड़ा

न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखानेवाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था; पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचानेवाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास मे दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौनो के बीच मे प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिए हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भइया' कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है; पर रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, निस्तन्द्र, पर स्नेह–तरल।

—श्रीमती महादेवी वर्मा

*

डा० सत्यप्रकाश

डा० सत्यप्रकाशजी का जन्म बिजनौर में भाद्र कृष्णाष्टमी सं० १९६२ को हुआ। उनके पिता का नाम पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय है। उपाध्याय जी दर्शन शास्त्र के पंडित हैं। उनके अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं। सत्यप्रकाश जी प्रारम्भ से ही साहित्यिक रुचि के हैं। उन्होंने सन् १९२२ ई० में ईश और श्वेताश्वतर उपनिषद् का अनुवाद 'ब्रह्म विज्ञान' नाम से पद्यबद्ध किया। सन् १९२८ ई० में प्रतिबिम्बि नाम से उनकी कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। सत्यप्रकाशजी ने प्रयाग विश्वविद्यालय से रसायन-शास्त्र में एम० एस-सी० पास किया। सन् १९३२ ई० में उन्होंने अनुसन्धान करके डी० एस-सी० प्राप्त किया।

डा० सत्यप्रकाश जी ने विज्ञान पर अंग्रेजी में १० ग्रन्थ लिखे हैं। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और अमरीका की अनुसन्धान-सम्बन्धी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में साठ से ऊपर आपके 'पेपर' प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी में विज्ञान पर आप १९३० से ही लिख रहे हैं। "विज्ञान" नामक मासिक पत्रिका के आप बहुत दिनों तक सम्पादक रह चुके हैं। हिन्दी में आपके निम्नलिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—१. अंग्रेजी-हिन्दी वैज्ञानिक कोश (दो), २. समाचार पत्रकोश, ३. सामान्य रसायन शास्त्र (दो). ४. कार्बनिक रसायन ५. प्रायोगिक रसायन, ६. सृष्टि की कथा ७. आधुनिक आवागमन।

डा० सत्यप्रकाश जी के जीवन में सादा जीवन और उच्च विचार रूपायित हैं। वे संस्कृत के भी पंडित हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द उनकी भाषा में हैं। पर विज्ञान जैसे विषय पर भी वह बोधगम्य भाषा और समझ में आने लायक शैली में लिखते हैं। उनकी भाषा मँजी हुई और प्रवाहपूर्ण है। "पृथ्वी का इतिहास" डा० सत्य प्रकाशजी की गद्य शैली का एक उदाहरण है। इस दुरूह विषय को बहुत सहज भाव से उन्होंने समझा दिया है। ★

पृथ्वी का इतिहास

यह कहा जा चुका है कि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार सौरजगत की उत्पत्ति उल्काओं और नीहारिकाओं से हुई है। परन्तु वर्त्तमान रूप प्राप्त करने में भी इस पृथ्वी ने लाखों वर्ष लिये होंगे। पृथ्वी के निर्माण का इतिहास भी कई कालों मे विभक्त किया गया है। भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास के तीन बड़े-बड़े भाग किये जाते हैं। प्रचीन-कालीन इतिहास, मध्यकालीन और आधुनिक। इसी प्रकार सुविधा के लिये पृथ्वी के ऐतिहासिक समय को ५ बड़े-बड़े कालों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक काल के फिर कई छोटे-छोटे और विभाग किये गये हैं, जिन्हें 'खण्ड' कहते हैं। अगले पृष्ठ पर इसका विवरण दिया गया है।

समस्त ऐतिहासिक समय ५ ऐतिहासिक कालों में विभाजित किया गया है। पहले काल को आदिकाल इसलिये कहते है कि जीवन का प्रथमत: आरम्भ हुआ था। दूसरा काल पुरातन काल कहलाता है। इसमे विचित्र प्रकार के जीवों की उत्पत्ति होने लगी। जीवन मे इस काल से परिवर्तन आरम्भ होने लगा। इसके बाद प्राचीन काल आया जिसमे प्राचीन समयों के जीवों की सृष्टि हुई। माध्यमिक काल में इस प्रकार के पशु और वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी अवस्था प्राचीन और आधुनिक काल के जीवों के बीच की है। अन्तिम काल आधुनिक काल है, जो अभी चल रहा है। यह ऐतिहासिक विभाग पशु-पक्षियों और वनस्पति-जगत् की अवस्थाओं के अनुसार किया गया है।

पर इस प्रकार का विभाग क्यों किया गया? वस्तुत: बात यह है कि जलवायु, तापक्रम आदि परिस्थितियों पर प्राणी और वनस्पति-जगत् की अवस्था निर्भर है। गरम प्रदेश में रहने वाले पशु और इन स्थलों मे

उगने वाले वृक्ष शीत-प्रधान प्रदेश के पशु और वृक्षों से अनेक उपयोगी गुणों में भिन्न होते हैं। प्रत्येक पशु और वृक्षों के लिये एक विशेष जलवायु की आवश्यकता है। अब यदि कहीं पुराने अस्थि-पंजर प्राप्त हों या वृक्षों के अवशेष मिलें तो उनकी परीक्षा करने से पता चल सकता है कि उक्त जीव और वृक्षों के जीवन-काल में उस स्थान पर कैसी जलवायु थी, अथवा उस समय उक्त स्थान में पृथ्वी की क्या अवस्था थी। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन अवशेषों और अस्थि-पंजरों को संकलित किया गया और उस समय का इतिहास इन्हीं साधनों द्वारा निश्चित किया गया है। पृथ्वी का इतिहास जानने वाले विद्यार्थी के लिये इन अवशेषों और शिलाओं के अतिरिक्त और कोई साधन है भी तो नहीं, जिससे कुछ सहायता ली जा सके।

उपर्युक्त सिद्धांत को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यह सब जानते हैं कि मूँगा की भित्तियाँ केवल उष्ण जलवायु में ही उपलब्ध होती हैं। इस समय भी उन्हीं प्रायद्वीपों या महाद्वीपों के समुद्री तट पर मूँगा पाये जाते हैं, जहाँ की जलवायु उष्ण है। यदि शीत-प्रधान देश मे मूँगाओं के अवशेष पाये जायँ, तो इससे यह अनुमान सर्वथा युक्तिसङ्गत है कि ऐसा कोई समय अवश्य था, जबकि इस शीत प्रधान देश की जलवायु उष्ण थी और तभी वहाँ इन मूँगाओं की उत्पत्ति होना सम्भव हुआ। ब्रिटिश-द्वीप के कुछ चूने के पत्थरों में मूँगा पाये जाते हैं, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि एक समय अवश्य ऐसा था, जब कि इन द्वीपों की जलवायु वर्त्तमान जलवायु की अपेक्षा अधिक गरम थी।

सृष्टि के इतिहास को परिवर्तित करने में गरम और ठण्ठी हवाओं की शक्तियाँ भी बहुत भाग लेती हैं। यदि किसी शिला-प्रस्तर पर वायु अधिक शक्ति से टकराती है तो इनमें और प्रकार का परिवर्त्तन हो जाता है और कम बल से टकराये तो परिवर्त्तन और ही प्रकार

का होगा। हवाओं का बल या शक्ति दो स्थलों के तापक्रम-भेद पर निर्भर है। हवायें किस प्रकार चलती है? मान लीजिये कि दो स्थान भिन्न-भिन्न तापक्रमों पर हैं। एक अधिक गरम है और दूसरा अधिक ठण्ढा है। गरम प्रदेश की हवा गरम होकर हल्की हो जाती है और ऊपर उठती है और उसका रिक्त स्थल पूरा करने के लिए ठण्डी वायु गरम प्रदेश की ओर दौड़ने लगती है। इसी प्रकार हवा के झोंके तापक्रम भेद से पैदा हो जाते हैं। दो स्थानों के तापक्रमों मे जितना ही अधिक भेद होगा, हवा का झोंका भी उतने ही अधिक बल से बहेगा। यदि यह तापक्रम-भेद कम है, तो हवा भी धीरे-धीरे बहेगी। भूप्रदेश पर हल्के बल वाली वायु का प्रभाव और प्रकार का पड़ेगा और अधिक बल वाली वायु का प्रभाव और प्रकार का होगा। भू-वेत्ताओं ने स्थलों की परीक्षा करके यह परिणाम निश्चित किये है कि वायु का कितना वेग स्थलो मे कितना परिवर्त्तन कर सकता है। किसी अज्ञात स्थान मे भूमि की परीक्षा करने से पता चलता है कि किसी समय वहाँ पर वायु अधिक वेग से चल रही थी या धीरे-धीरे, अतः यह पता चल सकता है कि उस स्थल के तापक्रम में और समीपवर्ती अन्य स्थानो मे तापक्रम का भेद कम था या अधिक। इस प्रकार उन स्थलो की भौतिक स्थिति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

वर्षा की बूंदों के प्रभाव से भू-स्थल पर अनेक परिवर्त्तन हो जाते हैं। अतः भिन्न-भिन्न स्थानो की परीक्षा करने से यह पता चल सकता है कि स्थलों मे वर्षा की क्या अवस्था थी। कल्पना कीजिये कि किसी ऐसे स्थल में, जहाँ आजकल बहुत कम वर्षा होती है, कुछ ऐसे चिह्न मिलें जो केवल अधिक वर्षा होने वाले स्थलों में ही सम्भव थे, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोई ऐसा समय अवश्य होगा, जब इस स्थल मे बहुत वर्षा होती थी।

इन सब साधनों का उपयोग करके यह परिणाम निकाला गया है कि अनेक स्थलों मे जहाँ पहले मरुभूमि थी आजकल झीलें हैं। और जहाँ आजकल झीलें है वह पहले मरुस्थल थे। परीक्षा करने पर यह पाया गया है कि चीन में और दक्षिणी आस्ट्रेलिया मे एडीलेड के पीछे की पहाड़ियों मे एक ही प्रकार की शिलायें है। ये सब शिलाएँ प्राचीनकाल के कैम्ब्रियन खंड मे हिमानी-नदों (ग्लेशियरों) के प्रभाव से बनी हुई बतायी जाती है। ग्लेशियर बर्फीली नदी के समान होते है। इससे स्पष्ट है कि कैम्ब्रियन काल मे चीन और दक्षिणी आस्ट्रेलिया मे आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक ठंडक पड़ती थी।

इन सब बातों से यह पता चलता है कि भौगर्भिक इतिहास के आरम्भ मे बहुत मे स्थानों पर आजकल की अपेक्षा अधिक ठंढक पडती थी। प्राचीन-कालीन कार्बोनिफेरस खंड की शिलाओं की परीक्षा करने से यह पता चलता है कि भारतवर्ष तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के अन्य भागों में उन स्थानों पर बहुत बर्फ पड़ती थी और ग्लेशियर भी विद्यमान थे, जहाँ कि आजकल इनका नामो-निशान भी नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका मे भी इसी प्राचीन समय के बहुत से ऐसे पत्थर विद्यमान हैं, जिनके देखने से यह पता चलता है कि इनमे बर्फ के टुकड़ों की रगड़ें अवश्य लगी हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी उक्त समय में ग्लेशियर विद्यमान थे। क्या यह विचित्र बात नहीं है कि जिस समय भारतवर्ष, अफ्रिका आदि में कड़ाके की बर्फ पड़ती थी, यूरोप आदि उत्तरी गोलार्ध के स्थानों में आजकल की अपेक्षा अधिक गरम जलवायु थी।

पृथ्वी की पुरातन जलवायु इस बात को अधिक सिद्ध करती है कि इसका जन्म ठंडी उल्काओं के संघात और एकीकरण से हुआ है, न कि ज्योतिर्मय वायव्य के घनीकरण मे। इसमें सन्देह नहीं कि एक समय ऐसा था, जब कि भूमि के ऊपर की पपड़ी आजकल की अपेक्षा अधिक गरम थी, परन्तु यदि पृथ्वी का जन्म ठंडे पदार्थों के ऐसे समूहों से

हुआ हैं, जो पारस्परिक संघर्षण के कारण गरम हो गये थे, तो यह गरम अवस्था शीघ्र ही नष्ट हो जानी चाहिये। यदि पृथ्वी की उत्पत्ति ज्योतिर्मय नीहारिकाओं से मानी जाय तो इसके केन्द्र में इतना ताप होना कभी सम्भव नहीं है जितना कि इसमें पाया जाता है। ऐसी अवस्था में पृथ्वी की पपड़ी नीचे से इतनी नियमित रूप से फिर गरम न हो पाती और समस्त भूमि ठंडी पड़ जाती। इससे मालूम होता है कि ज्योतिर्मय भाप के घनीकरण से भूमि की उत्पत्ति मानना ठीक नही है।

पृथ्वी की पपड़ी का निर्माण—

सम्भवत: यह पृथ्वी ठण्डी उल्काओं के एकीकरण से बनी, पर एक समय ऐसा अवश्य आ चुका है जब कि इसका पृष्ठतल आजकल की अपेक्षा अधिक गरम था। यह गरम उल्काओं के संघर्षण से पैदा हुई थी। संघर्षण के अतिरिक्त गरमी पैदा होने का एक दूसरा भी कारण था। जब सब उल्का आपस में मिल गये तो इस प्रकार बने हुए पिण्ड मे संकोचन आरम्भ हुआ। यह संकोचन भी गरमी का कारण है। सूर्य की भी अधिकांश गरमी इसी संकोचन से उत्पन्न हुई है, न कि सूर्य-स्थित-पदार्थों के जलने के कारण। सूर्य वाष्पों का समूह है, यदि इसमे स्थित-पदार्थों के जलने के कारण ही गर्मी होती, तो जिस हिसाब से सूर्य, अपनी गरमी अन्य लोकों को दे रहा है उस हिसाब से इसमें अधिक समय तक गरमी न रह सकती। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यदि सूर्य के आकार के बराबर कार्बन का एक गोला तपाया जाय तो इसमे ३ हजार वर्ष से अधिक गरमी नहीं रह सकती है। पर सूर्य लाखों वर्षों से बराबर हमको गरमी देता रहा है इसका कारण यही है कि इस गरमी का मुख्य कारण सूर्यस्थ वाष्पों का संकोचन है। जर्मन-विज्ञान-वेत्ता हेल्म-होल्ज ने इस संकोचन का हिसाब लगाकर दिखा दिया है कि इसके आधार पर सूर्य में बहुत दिनों तक गरमी रह सकती है। उसकी गणना के हिसाब से यदि सूर्य के व्यास में प्रतिदिन

१६ इंच या प्रति ११ वर्ष मे १ मील संकोचन होता रहे तो यह बराबर गरम बना रहेगा।

इसी प्रकार का संकोचन पृथ्वी के उल्का-पिंड मे भी हुआ। ये उल्का मुख्यत: लोहे के बने हुए थे, जो कि ताप का अच्छा चालक है। अत: संकोचन से जो ताप उत्पन्न हुआ वह सम्पूर्ण पिण्ड मे फैल गया। इस पिण्ड के पृष्ठतल से धीरे-धीरे कुछ ताप विसर्जित होने लगा और पृष्ठतल ठंडा हो गया। संकोचन द्वारा उत्पन्न गरमी से बहुत से पदार्थ पिघल भी गये। पर पृथ्वी के केन्द्रस्थ पदार्थों के पिघलने के लिए अधिक अवकाश न था, क्योंकि जब कोई वस्तु पिघलती है तो ठोसावस्था की अपेक्षा वह अधिक जगह घेरती है। पर ऊपर के पदार्थों के दबाव के कारण पृथ्वी के अन्दर के पदार्थों को इतनी जगह कहाँ मिल सकती थी कि वे पिघल कर बढ़ जायँ। अत: भू-पिंड का केन्द्रस्थ भाग ठोस ही रहा। जो वस्तुएँ अधिक शीघ्र पिघल सकती थी वे ऊपर के तल मे पिघल कर बहने लगीं। पृथ्वी के अन्दर भी जो कुछ पिघले हुए अंश थे वे पिंड की भारी धातुओं के संकोच से ऊपर आ गये। इस प्रकार पृथ्वी के अन्दर तो धातुएँ रह गयीं और पथरीले पदार्थ ऊपर आ गये। यह पथरीला पिघला हुआ भाग ठंडा होने पर पृथ्वी की पथरीली पपड़ी बन गया। यही बात है कि पृथ्वी का धातु-कोष अन्दर की तरफ है और शिलाकोष ऊपर है।

रेडियो-एक्टिविटी या रश्मिशक्तित्व का हिसाब लगाकर लार्ड रेले ने भी यही अनुमान लगाया है कि पृथ्वी के अन्दर धातुकोष अवश्य विद्यमान है। पृथ्वी के पृष्ठतल पर जितना रश्मिशक्तित्व है, उसके हिसाब से ४५ मील की तह में रश्मिशक्तित्व-युक्त पदार्थ होने चाहिएँ, पर यदि और अधिक तह में ये होते तो पृथ्वीतल पर की रश्मिशक्ति-मात्रा और अधिक होती। इससे पता चलता है कि ४५ मील के नीचे रश्मिशक्तित्व पदार्थ नहीं है। यह विदित बात है कि लोह-उल्काओं मे रश्मिशक्तित्व नहीं होता है। बहुत सम्भव है कि पृथ्वी में ४५ मील

नीचे लोह उल्का तथा निकेल आदि धातुएँ होंगी, अतः पृथ्वी के भीतर धातुकोष की विद्यमानता मानना अनुपयुक्त न होगा ।

पृथ्वी की पपड़ी पथरीली शिलाओं की बनी है । प्रत्येक शिला एक व अनेक पदार्थों से मिलकर बनी हुई है । इन पदार्थों को खनिज कहते है । ये खनिज दो प्रकार के होते है—एक रस खनिज और दूसरे मिश्रित खनिज । जिन खनिजों के चूर्ण पानी से धोकर या हाथ से ही जिनके कण चुन-चुन कर दो पृथक् भागों में अलग नहीं किये जा सकते है उन्हें एकरस खनिज कहते हैं । मिश्रित खनिज कई खनिजों के मिश्रण होते हैं । इनमे से बहुत मे मिश्रित खनिज कई एकरस खनिजों के मिश्रण को गलाकर ठंडा करने से बनाये जा सकते हैं । बहुत से मिश्रित खनिज प्रकृति में ही पाये जाते है, उनको कृत्रिम रूप से तैयार नहीं किया जा सकता है ।

निम्न खनिज एकरस खनिजों के मिश्रण को गला कर कृत्रिम रूप मे तैयार किये जा सकते है :—

१. ओलविन	४. भूरा माइका (अभ्रक)
२. पाइरोक्जीन	५. फेल्सपार
३. गारनेट	६. ट्रिडाइमाइट

[क्वार्ट्ज श्वेत माइका (अभ्रक), टोपाज, टूरमेलिन आदि कृत्रिम रूप मे अभी तक नहीं बनाये जा सके हैं ।]

इस प्रकार शिलाओं मे पाये जाने वाले खनिज दो विभागों में बाँटे जा सकते हैं । एक तो वे जो पिघले हुए खनिजों से बनाये जा सकते हैं और दूसरे क्वार्ट्ज, श्वेत माइका आदि के समान वे जिनके बनाने की प्रक्रियायें इतनी जटिल हैं कि अब तक कृत्रिम रूप से उनका बनाना सम्भव नही हुआ है ।

पृथ्वी के पृष्ठतल पर सबसे पहले वे चट्टानें बनी होंगी, जो साधारणतया गलाकर बनाई जा सकती हैं । इनके खनिजों में सिलिका नहीं पाया जाता है, अतः ये क्षारीय कहलाती हैं । कुछ

शिलाओं में लोहा और मैगनीशियम भी होता है। इन शिलाओं के पश्चात् उन शिलाओं की स्थिति है, जो क्षारीय है। इन शिलाओं के खनिजो मे ग्रेनाइट अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार भौगर्भिक इतिहास मे भूमि सर्वप्रथम तीन भागों मे विभाजित हुई—(१) केन्द्रस्थ धातुकोष, (१) शिलाकोष, जिससे नीचे की तह मे क्षारीय शिलायें, लोह और मैगनीशियम वाले खनिज हुए और (३) जिसकी ऊपरी तह मे अम्लीय शिलायें, जिनमे क्वार्टज सोडियम सिलिकेट आदि खनिज हुए।

इस प्रकार पृथ्वी के पृष्ठतल की पपड़ी बन गई। अब इन पपड़ियों के भीतर की क्या अवस्था है, इसका पता लगाने के लिए भूकम्प या भूडोल की भी सहायता ली गई है। जब किसी तालाब या नदी मे एक कंकड़ डाला जाता है, तो जिस स्थान पर कंकड़ गिरता है, उसके चारों ओर गोल-गोल लहरें उठने लगती है और ये लहरें तालाब के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुंच जाती है। यदि कीचड़ डाला जाय तो उसमें भी कुछ लहरें उठेंगी, पर इनका वेग उतना न होगा जितना कि पानी की लहरों का था। उससे मालूम होता है कि इस प्रकार की लहरें भिन्न-भिन्न तरह के पदार्थो मे भिन्न-भिन्न वेग से चलती है।

पृथ्वी में जो भूकम्प आते हैं वे भी तो इसी प्रकार तरङ्गें है। पृथ्वी की पपड़ी मे जब कभी क्षति पहुँचती है या किसी ज्वालामुखी का प्रकोप होता है तो इस प्रकार की लहरें चलने लगती हैं। ये लहरें दो प्रकार से चल सकती हैं। या तो पृथ्वी के पृष्ठतल पर ही होकर अपने विपरीत स्थान पर पहुँच जॉय, या पृथ्वी के अन्दर होती हुई दूसरे स्थान पर पहुँचें। पृथ्वी गोल है, अत: पृथ्वी के भीतर सीधी घुसकर पृष्ठतल के ऊपर ही ऊपर जाना चाहेंगी तो इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में अधिक समय लगेगा। इसके अतिरिक्त लहरों को

मार्ग में जिस प्रकारके पदार्थ मिलेंगे उनकी अवस्था पर भी इन लहरों का वेग निर्भर रहेगा। प्रोफेसर मिल्ने ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी के अन्दर होकर तो ये लहरें ५.५८ मील प्रति सेकेण्ड के हिसाब चलती हैं, पर पृथ्वी की पपड़ी मे होकर केवल १.८६ मील प्रति सेकेण्ड ही वेग रह जाता है। इन वेगों के हिसाब से मिल्ने ने पता लगाया है कि चालीस मील मोटी पृथ्वी की पपड़ी है और इसके नीचे धातु का एक रस कोष है। ओल्ढम महोदय ने अपनी परीक्षाओं से यह परिणाम निकाला है कि धातुकोष के नीचे भी एक और कोष है, जिसे केन्द्रस्थ कोष कहते हैं। यह किसी अज्ञात पदार्थ का बना हुआ है।

पर इस प्रकार की पृथ्वी से कोई अधिक लाभ नहीं हो सकता था, क्योंकि इसकी सम्पूर्ण धातुएँ पृथ्वी के दुरूह गर्भ मे लुप्त थीं, जहाँ से धातुओं को प्राप्त करना मनुष्य-शक्ति के बाहर था। बिना धातुओं के मनुष्य-जीवन का निर्वाह होना असम्भव ही है। फासफोरस भी अग्नि-शिलाओं मे छोटे-छोटे कणों के रूप मे बिखरा हुआ था, जिनसे लाभ उठाना दुष्कर ही था और बिना स्फुर के भी तो मनुष्य या प्राणियों का शरीर नहीं बन सकता। क्वार्ट्ज़ भी जिनका उपयोग भवनों का निर्माण करने मे होता है, अज्ञात शिलाओं के बीच मे छिपा हुआ था। यह मिट्टी जो अनेक रूप से हमारे लिए आवश्यक है, उस समय इस रूप मे न थी। शरीर-निर्माण का एक और आवश्यक पदार्थ हाइड्रोजन केवल वायुमण्डल मे ही था; पर इस रूप से यह प्राणियों और वनस्पतियों के लिए किसी काम का भी नहीं है। यद्यपि जीवन की आवश्यक समस्त सामग्री इस पृथ्वी मे विद्यमान थी, पर वह ऐसी सामग्री इस आबोहवा और ऐसे स्थलों में थी कि उससे लाभ उठाना असम्भव ही था।

अतः प्राणियों के विकास के पूर्व इस पृथ्वी मे फिर परिवर्त्तन आरम्भ हुए। इनके द्वारा पृथ्वी की सम्पत्ति का वितरण और विभाजन हुआ। जिस प्रकार बड़े-बड़े नगरों के बाजारों मे दूर-दूर

के स्थलों से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ आकर आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, इसी प्रकार पृथ्वी मे भी अनेक स्थलों पर बाजार खुल गये, जहाँ सब जगहों की वस्तुएँ एक स्थल पर मिलना सम्भव हो गया।

पृथ्वी की अवस्था मे ये परिवर्त्तन तीन प्रकार के साधनों से हुए। पहले प्रकार के साधन ने शिला-कोष शिलाओं को तोड़ना आरम्भ किया। दूसरे प्रकार के साधनों ने शिलाकोष के इन टुकडों का निर्वाचन किया अर्थात भिन्न-भिन्न पदार्थो को अलग-अलग किया। तीसरे प्रकार के साधनों ने शिलाकोष के इन निर्वाचित अंशों को फिर भिन्न-भिन्न प्रस्तरों के रूप मे सञ्चित करना आरम्भ किया। इस प्रकार तीन साधनों द्वारा शिलाकोष की शिलाओं से नई शिलाएँ बननी आरम्भ हुईं।

अब दो प्रकार की शिलाएँ हो गईं। एक तो वे जो पृथ्वी के बनते समय पिघले हुए भाग के ठण्डे होने से बनी थीं। इन्हें 'मुख्य-शिलाएँ' (Primary Rock) कहते हैं। दूसरे प्रकार की शिलायें इन्हीं मुख्य शिलाओं के विभाजन और नये रूप से संचय होने से बनी हैं। इन्हे 'गौण-शिलाएँ' (Secondary) कहते है। मुख्य शिलाओं पर वायुमण्डल की गैसों का प्रभाव पड़ता है, जिससे इनमे परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। वायु में आक्सीजन, कार्बन द्वि आक्साइड और जलवाष्प, ये तीन ऐसे अंश हैं—जिनका इन शिलाओं के कुछ अंशों से आक्सीजन संयुक्त हो जाता हैं। आक्सीजन से अन्य पदार्थो के संयोग का नाम आक्सीकरण (Oxidation) है। इस प्रक्रिया में ताप भी उत्पन्न होता है और पदार्थों के आयतन में भी वृद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आक्सीकरण के पूर्व पदार्थ जितनी जगह घेरता है उससे अधिक जगह उसे आक्सीकरण के पश्चात् घेरने के लिए चाहिए पर इन शिलाओं के आस-पास खाली स्थल न होने के कारण

इन्हें अपनी समीपस्थ अन्य शिलाओं से संघर्षण करना पड़ेगा और जिस प्रकार गरम कांच पानी पड़ते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, ये मुख्य शिलायें भी आक्सीजन से संयुक्त होकर फैलने के लिए अवकाश न पाने के कारण चूर-चूर हो जाती है।

वायु में कार्बन-द्विआक्साइड भी है। जब वर्षा होती है तो वह पदार्थ जल में घुलकर पृथ्वी पर आ जाता है। यह जल जमीन मे प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ की चट्टानों से इसमे घुला हुआ कार्बनद्विआक्साइड संयुक्त हो जाता है। कार्वनद्वि-आक्साइड और अन्य पदार्थों के संयोग से जो पदार्थ बनते है उन्हे कार्बोनेट कहते हैं। शिलाओं का मुख्य तत्त्व सिलीकन है। जब तक शिलाओं में यह तत्त्व रहता है तब तक इन पदार्थों को सिलीकेट कहते हैं। पर अब कार्बन-द्विआक्साइड के प्रभाव से ये सिलीकेट कार्बोनेट मे परिणत हो जाते है। इस परिवर्तन के कारण भी शिलाओं का विभाजन और भञ्जन आरम्भ होता है।

वायु में जो जल विद्यमान है, वह भी इन मुख्य शिलाओं को तोड़ने मे सहायक होता है, यह वाष्पजल धीरे-धीरे शिलाओं में भिनने लगता है और उनके छेदों और दरवाजों में भर जाता है। रात को ठण्डा होकर यह जल बर्फ बन जाता है। बर्फ पानी से अधिक स्थान घेरती है, अतः बर्फ बनकर जब जल फैलता है तो फैलने के लिए अवकाश न पाकर यह चट्टानों को तोड़ डालता है। इस जल का दूसरा प्रभाव यह होता है कि इसमे कार्बन-द्विआक्साइड घुले होने के कारण बहुत से कार्बोनेट इसमें घुल जाते हैं और इस प्रकार शिलाओं में परिवर्त्तन हो जाता है।

इन सब प्रभावों के द्वारा मुख्य शिलाएँ टूट-टूट कर टुकड़े हो जाती हैं, और फिर बाद को इनसे वह शिलाएँ बननी आरम्भ होती हैं।

—डा० सत्यप्रकाश

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा नामक ग्राम में श्रावण शुक्ल ११ सं० १९६४ को हुआ। उनके पिता का नाम अनमोल दूबे है। द्विवेदी जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यलय से संस्कृत में ज्योतिषाचार्य, शास्त्राचार्य की परीक्षाएँ पास की हैं। बीमार हो जाने के कारण वह बी० ए० परीक्षा में न बैठ सके। १९३० में वह शान्तिनिकेतन चले गए। वहाँ वे हिन्दी और संस्कृत अध्यापन कार्य करते हुए हिन्दी प्रेमियों और खास कर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के सहयोग से हिन्दी भवन कायम करने में सफल हुए। उनके अध्यक्ष का भार भी उन्होंने सम्हाला। शान्तिनिकेतन में रहते हुए द्विवेदी जी ने "हिन्दी साहित्य की भूमिका" और "कबीर" नामक दो अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जिससे उनकी प्रसिद्ध देश में हो गई सन् १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने द्विवेदी जा की विद्वत्ता का सम्मान करते हुए उन्हें 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की सम्मानित उपाधि दी। द्विवेदी जी की विद्वत्ता और उनके कार्यों को देखकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने उन्हें अपने यहाँ बुलाकर हिन्दी विभाग का अध्यक्ष बनाया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी समालोचक, निबन्धकार, उपन्यासकार और कुशल वक्ता हैं। "सूर साहित्य", हिन्दी साहित्य की भूमिका", "कबीर", "प्राचीन भारत का कला विकास", 'नाथ सम्प्रदाय", विचार वितर्क", "अशोक के फूल" आदि उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

"बाणभट्ट की आत्म कथा" उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है। इनके अलावा अनेक ग्रन्थों का अनुवाद और सम्पादन भी उन्होंने किया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य को सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर मानव-कल्याण की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए वह विषय वस्तु को व्यापक रूप में और उदारतापूर्वक देखते हैं। विषयानुकूल उनकी भाषा कहीं-कहीं कठिन भले ही हो जाय; पर विषय प्रतिपादन की उनकी अपनी शास्त्रीय पद्धति ऐसी है कि पाठक प्रतिपाद्य वस्तु को समझ लेता है। वह शुष्क विषय को भी सरस बनाकर कहते हैं; उनके गद्य में कहीं-कहीं काव्य का सा आनन्द आता है। कहीं-कहीं तो वह गद्य में चित्र उपस्थित कर अपने भावों को समझाते हैं। वह विवेचनात्मक, भावात्मक और सहानुभूतिमूलक निबन्ध भी लिखने में प्रवीण हैं। उनका प्रस्तुत निबन्ध "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" में विवेचनात्मक शैली है और इसके अन्दर उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो गया है।

—०—

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि हम लोग एक कठिन समय के भीतर से गुजर रहे हैं। आज नाना भाँति के संकीर्ण स्वार्थों ने मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा बना दिया है कि जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य के हित की बात सोचना असम्भव हो गया है। ऐसा लग रहा है कि किसी विकट दुर्भाग्य के इंगित पर दलगत स्वार्थ के प्रेत ने मनुष्यता को दबोच लिया है। दुनिया छोटे-छोटे संकीर्ण स्वार्थों के आधार पर अनेक दलों में विभक्त हो गई है। अपने दल के बाहर का आदमी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। उसके रोने-गाने तक पर असदुद्देश्य का आरोप किया जाता है। उसके तप और सत्यनिष्ठा का मजाक उड़ाया जाता है। उसके प्रत्येक त्याग और बलिदान के कार्य में 'चाल' का सन्धान पाया जाता है और अपने-अपने दलों में ऐसा करनेवाले सफल नेता भी मान लिए जाते हैं; परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेवाले आदमी विराट अनुचर-वाहिनी के साथ इस प्रकार का गन्दा प्रचार करते हैं तो ऊपर-ऊपर से चाहे जितनी भी सफलता उनके पक्ष में आती हुई क्यों न दिखाई दे, इतिहास-विधाता का निष्ठुर नियम-प्रवाह भीतर-ही-भीतर उनके स्वार्थों का उन्मूलन करता रहता है। इतिहास शक्तिशाली व्यक्तियों और राष्ट्रों की चिन्ता-भूमि को कुचलता हुआ बढ़ रहा है, फिर भी गन्दे तरीके सुधारे नहीं गए हैं बल्कि और भी कौशलपूर्वक उनको प्रभावशाली बनाया जाता रहा है। जो लोग द्रष्टा हैं वे इसे समझते हैं; पर उनकी

बात मदमत्त व्यक्तियों की ऊँची गद्दियों तक नहीं पहुँच पाती। संसार में अच्छी बात कहनेवालों की कमी नहीं है, परन्तु मनुष्य के सामाजिक संघटन में ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है, जो मनुष्य को अच्छी बात सुनने और समझने से रोका रहा है। इसीलिए आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाय, बल्कि यह कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाय।

इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्पनाविलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन मे उतार सके। साहित्यिक सभाएँ यह कार्य कर सकती है। वे सम्पूर्ण जनसमाज को उत्तम साहित्य सुनाने का माध्यम बन सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम हैं। जिन देशों में शिक्षा की समस्या हल हो चुकी है, उनके साहित्यिकों की अपेक्षा यहाँ के साहित्यिकों की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भण्डार को भरने का व्रत लिया है, उसका महत्व और भी अधिक है। वह भारतवर्ष के केन्द्रीय प्रदेशों की भाषा है, कई करोड़ आदमियों की ज्ञानपिपासा उसे शान्त करनी हैं। इसीलिए उसे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है।

हम लोग जब हिन्दी की सेवा करने की बात सोचते हैं तो प्राय: भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज को सेवा जिसके विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम हिन्दी है। मनुष्य ही बड़ी चीज है, भाषा उसी की सेवा के लिए है। साहित्य सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने आप के लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह

सकता ; परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को रोग-शोक, दारिद्रय-अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा मे ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूँ कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को बदल सकेंगे।

परन्तु हमें सावधानी से सोचना होगा कि हिन्दी बोलने वाला जन-समुदाय क्या वस्तु है और वास्तव में यह परिस्थिति क्या है, जिसे हम बदलना चाहते हैं। काल्पनिक प्रेत को घूँसा मारना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नगरों और गाँवों में फैला हुआ, सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त, अशिक्षा, कुशिक्षा, दारिद्रय और रोग से पीड़ित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित है। भाषा और साहित्य की समस्या वस्तुत: उन्हीं की समस्या है। क्यों ये इतने दीन-दलित हैं? शताब्दियों की सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामी के भार से दबे हुए ये मनुष्य ही भाषा के प्रश्न हैं और संस्कृति तथा साहित्य की कसौटी हैं। जब कभी आप किसी विकट प्रश्न के समाधान का प्रयत्न कर रहे हों तो इन्हें सीधे देखें। अमेरिका में या जापान में ये समस्याएँ कैसे हल हुई हैं, यह कम सोचें किन्तु असल में ये हैं क्या और किस या किन कारणों से ये ऐसे हो गए हैं, इसी को अधिक सोचें। बड़े-बड़े विचारकों ने इस देश के जनसमुदाय के अध्ययन का प्रयत्न किया है, अब भी कर रहे हैं; पर ये अध्ययन या तो इन्हें अच्छी प्रजा बनाने के उद्देश्य से किए गए हैं या वैज्ञानिक कुतूहल निवारण के उद्देश्य से। इनको इस दृष्टि से देखना अभी बाकी है कि मनुष्य कैसे वे बनाये जायँ। हमारी भाषा, हमारा साहित्य, हमारी राजनीति—सब कुछ का उद्देश्य यही हो सकता है कि दुर्गतियों से बचाकर मनुष्यता के आसन पर बैठाया जाय।

हमारा यह देश जातिभेद का देश है। करोड़ों मनुष्य अकारण

अपमान के शिकार हैं। निरन्तर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन में हीनता की गाँठ पड़ गई है। गाँठ जब तक नहीं निकल जाती तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नहीं रह सकती। कर्म का फल मिलता ही है। इससे बचने का उपाय नहीं है। जिन लोगों को अकारण अपमान के बन्धन में डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे ससार में अपमान के कारण बने हैं।

हमें सावधानी से उनकी वर्त्तमान अवस्था का कारण खोजना होगा। ये अनादिकाल से हीन नहीं समझे जाते रहे है। नाना प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारण-परम्परा के भीतर से गुजर कर भारतवर्ष की सैकड़ों जातियों वाला समाज तैयार हुआ है। इस शतच्छिद्र कलश मे आध्यात्मिक रस टिक नहीं सकता। आजकल हम लोग हिन्दू-मुसलमानों की मिलन-समस्या से बुरी तरह चिन्तित हैं। निःसन्देह यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस महान् प्रश्न ने हमारे समस्त जीवन को गम्भीरतापूर्वक विचारने के लिए चुनौती दी है। हम अपनी भाषा के क्षेत्र मे भी इस कठिन समस्या से हतबुद्धि हो रहे हैं, हमारे बड़े-बड़े विचारकों ने प्रत्येक क्षेत्र में सुलह करने का व्रत लिया है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इससे भी कठोर समस्या का सामना हमे हिन्दू-हिन्दू मिलन के लिए ही करना है। अशान्ति के चिह्न अभी से प्रकट होने लगे हैं। जब हम भाषा या साहित्यविषयक किसी प्रश्न का समाधान करने बैठें तो केवल वर्तमान पर दृष्टि निबद्ध रखने से हम धोखा खा सकते हैं। मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घदर्शिता का गर्व नहीं है, लेकिन जो कुछ अनुभव करता हूँ, उसे ईमानदारी से प्रकट करने से शायद कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से ये बातें कह रहा हूँ। सैकड़ों व्यर्थ कल्पनाओं की भाँति ये भी अनन्त वायुमण्डल में विलीन हो जायेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों में आत्मचेतना का संचार होता जायगा त्यों-त्यों हिन्दू समाज की भीतरी समस्याएँ

उग्र रूप धारण करती जायँगी। राजनैतिक बन्धनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बन्धन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में।

कवि ने बहुत पहले सावधान किया है, "जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है वह तुम्हें नीचे से जकड़ कर बाँध लेगा, जिसे पीछे डाल रखा है वह पीछे से खींचेगा, अज्ञान के अन्धकार की आड़ मे जिसे तुमने ढक रखा है वह तुम्हारे समस्त मंगल को ढक कर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। हे मेरे दुर्भाग्यग्रस्त देश ! अपमान मे तुम्हें समस्त अपमानितों के समान होना पड़ेगा।"

शताब्दियों के विकट अपमान की प्रतिक्रिया कठोर होगी। उनके लिये हमें तैयार होगा। मुझे ऐसा लगता है कि जब भाषा और साहित्य के मसले पर विचार किया जाता है तो इस तथ्य को बिल्कुल भुला दिया जाता है। हिन्दुओं की अपनी भीतरी समस्याएँ भी हैं और उन भीतरी समस्याओं के लिए जो विचार-विनिमय हुए हैं या हो रहे हैं, वे नाना कारणों से संस्कृत-साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। वे किसी के प्रति घृणा या अदूरदर्शिता के कारण नहीं हुए हैं। छोटी कही जानेवाली जातियों में ऊपर उठने की आकांक्षा स्वाभाविक है और उसके लिए उनका संस्कृत साहित्य की ओर झुकना भी अस्वाभाविक नहीं है। यदि संस्कृतबहुल भाषा के व्यवहार से और समस्त जातियों के ब्राह्मण या क्षत्रिय कहे जाने से सात करोड़ आदमियों में अपने को हीन समझने की मनोवृत्ति कुछ भी कम होती है तो ऐसा करना वांछनीय है या नहीं, यह मैं देश के नेताओं के विचारने के लिए छोड़ देता हूँ।

एक जमाना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से

नस्ल की पहचान होती है, परन्तु शीघ्र ही भ्रम टूट गया। देखा गया है कि वे दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा सिद्ध हुआ है। वर्तमान हिन्दू-समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियाँ हैं, जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी हैं और आर्य भाषा बोलती हैं। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तर-विभाग स्वीकार किया है कि निम्नश्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊँचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फिर्के के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहते है। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे मे एक भी ऐमा मामला नहीं देखा, जहाँ आर्यभाषा—संस्कृत श्रेणी की भाषा—बोलने-वाले किसी जनसमुदाय ने अन्य भाषा से अपनी भाषा बदली हो, यहाँ तक कि आर्यभाषा की एक बोली के बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया हैं।

स्पष्ट है कि इस देश में संस्कृत-प्राधान्य कोई नई घटना नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि इस भाषा का सहारा लेकर जातियाँ ऊपर उठी हैं। मैं केवल उन तथ्यों को आपके सामने रख रहा हूँ जिनके आधार पर मेरी यह धारणा बनी है कि इस देश के करोड़ों मनुष्यों मे आत्म-चेतना भरने का काम बहुत दिनो से संस्कृत भाषा करती आई है और आगे भी करती रहेगी, ऐमी संभावना है। यह न समझिये कि जो लोग संस्कृत-बहुल भाषा का व्यवहार कर रहे हैं, वे किसी संप्रदाय के प्रति द्वेषवश या घृणावश करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी बेतुकी बातों पर भी आसानो से विश्वास कर लिया जाता है।

दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित इन मनुष्यों को हमें ज्ञान देना है। शताब्दियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों मे हमें आत्मगरिमा

का संचार करना है। अकारण अपमानित इन मूक नरकंकालों को हमें वाणी देनी है। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता और मूकता से इनका उद्धार करना है। साहित्यिक का यही काम है।

इससे छोटे उद्देश्य को मैं विशेष बहुमान नहीं देता। आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिये। यदि इनको मनुष्यता के ऊँचे आसन पर आप नहीं बैठा सकते तो साहित्यिक भी नहीं कहे जा सकते, और यह कहना ही अनावश्यक है कि स्वयं मनुष्य बने बिना, स्वयं छोटे-छोटे तुच्छ वादों से ऊपर उठे बिना कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता है। साहित्य के साधकों को मनुष्य की सेवा करना है तो देवता बनना होगा। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

शायद मेरी ही भाँति आप भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इस बहुता-विभक्त जनसमुदाय को सम्बद्ध बनाना है। यदि यह बात सत्य है तो मैं समझता हूँ, अभी हमने साहित्य का आरम्भ ही नहीं किया है। हिन्दी में कितने जनसमूहों के परिचायक ग्रन्थ हमने लिखे हैं? इस विशाल मानव-समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं? इनके जीवन को सुखमय बनाने के साधनों, इनकी भूमि, इनके पशु, इनके विनोद-सहचर, इनके पेशे, इनके विश्वास, इनकी नई-नई मनोवृत्तियों का हमने क्या अध्ययन प्रस्तुत किया है? कहाँ है वह सहानुभूति और दर्द का प्रमाण, जिसे आप गणदेवता के सामने रख सकेंगे? हिन्दी की उन्नति का अर्थ उसके बोलने और समझनेवालों की उन्नति है।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक परम्परा अत्यन्त दीर्घ, धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत जो कुछ भी सोचा जा सकता है, उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारी प्राचीन चिन्तनराशि को उसमें संचित नहीं

किया गया है। संस्कृत, पालि और प्राकृत की बढ़िया पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं, उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य भी लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव-समाज का दुर्भाग्य है जो इस भाषा के जरिये ही ज्ञान अर्जन करना चाहता है या करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं मे यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्य सहज हो उन सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने में बच जाता जो आज सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रहे हैं। विभिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचारक इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते हैं।

इतिहास को भी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से, कभी जातिगत और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी जैसे हैं, उन्हे वैसा होना ही है और उसी रूप मे बना रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है, वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रन्थो को हमे सिर्फ इसलिए नहीं भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पण्डितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए; परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनके प्रति उनका जो सम्मान है उसे अंग्रेजी के 'म्युजियम इन्टरेस्ट' शब्द से ही समझाया जा सकता है। नुमाइश में रखी हुई चीजों को हम प्रशंसा और

आदर की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुगल सम्राट् का चोंगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम उसकी प्रशंसा चाहें जितनी करें पर हम निश्चित जानते हैं कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देशवासियों के लिए वही वस्तु नहीं हैं। वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उनकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिए हमें इन ग्रन्थों का अपने ढंग से संपादन करके प्रकाशन करना है। इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करने हैं जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असंबद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक मे देख भी लिए गए हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्षों के दीर्घकाल में और लाखों वर्गमील मे फैले हुए मानव-समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है। उसका साधन गहन है और उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिन्दी-माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक समस्या है। उस समस्या के लिए संयम तथा आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर गम्भीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिन्दी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित हैं।

महान् कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिए। हिन्दी का साहित्य-निर्माण सचमुच महान् कार्य है, क्योंकि उससे करोड़ों का भला होना है। हम आजकल प्रायः गर्वपूर्वक कहा करते हैं कि हिन्दी बोलनेवालों की संख्या भारतवर्ष मे सबसे अधिक है। मैं समझता हूँ कि यह बात चिन्ता की है, क्योंकि हिन्दी बोलने वाले जनसमूह की मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक भूख मिटाने का काम सहज नहीं।

भारतवर्ष के पड़ोसी देशों में आजकल हिन्दी साहित्य पढ़ने और समझने की तीव्र लालसा जाग्रत हुई है। चीन से, मलाया से, सुमात्रा

से, जावा से—समस्त एशिया से माँग आ रही है। एशिया के देश अब अंग्रेजी पुस्तकों से प्राप्त सूचनाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे देशी दृष्टि से देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य खोजने लगे है। आगे यह जिज्ञासा और भी तीव्र होगी। मुझे चिन्ता होती है कि क्या हम अपने को इस उठती हुई श्रद्धा के उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे ? जिस दिन इतिहास-विधाता हमें ठेलकर विश्व जनता के दरबार में ला पटकेंगे, उस दिन तक क्या हम इतना भी निश्चय कर सके होंगे कि हमारी भाषा कैसी होगी, उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों का अनुपात क्या होगा और शब्दों के 'शुद्ध' और गैर-शुद्ध' उच्चारणों में से कौन-सा अपनाया जायगा !

समूचे जनसमूह मे भाषा और भाव भी एकता और सौहार्द होना अच्छा है। इसके लिए तर्क-शास्त्रियों की नहीं, ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो समस्त बाधाओं और विघ्नों को शिरसा स्वीकार करके काम करने मे जुट जाते हैं। वे ही लोग साहित्य का भी निर्माण करते हैं और इतिहास का भी। आज काम करना बड़ी बात है। इस देश में हिन्दू हैं, मुशलमान हैं, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य हैं, संस्कृत है, फारसी है, विरोधों और संघर्षों की विराट् वाहिनी है; पर सबके ऊपर मनुष्य है। विरोधों को दिन-रात याद करते रहने की अपेक्षा अपनी शक्ति का संबल लेकर उसकी सेवा मे जुट जाना अच्छा है। जो भी भाषा आपके पास है, उससे इस मनुष्य को ऊपर उठाने का काम शुरू कर दीजिए आप का उद्देश्य आपकी भाषा बना देगा।

अच्छी बात कहने वालों की कमी इस देश में कभी नहीं रही। आज भी बहुत ईमानदारी और सचाई के साथ अच्छी बात कहने वाले आदमी इस देश में कम नहीं हैं। उन्होंने प्रेम और भ्रातृभाव का मन्त्र बताया है। अनादिकाल से महापुरुषों ने प्रेम और सौहार्द का संदेश सुनाया है। कहते हैं, व्यासदेव ने अन्तिम जीवन में निराश

होकर कहा था कि मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि धर्म ही प्रधान वस्तु है, उसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, पर मेरी कोई सुन नहीं रहा है।

ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि समाज के ऐतिहासक विकास, आर्थिक संयोजन और सामाजिक संघटन के मूल में ही कुछ ऐसी गलती रह गई है कि एक वर्ग जिसे धर्म समझता है, दूसरा उसे नहीं समझ पाता। इस वैषम्य को ध्यान में रखकर ही प्रेम और सौहार्द का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। दही में जितना भी दूध डालिए, दही होता जायगा। शंकाशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।

मेरी अल्प बुद्धि में तो यही सूझता है कि समाज के नाना स्तरों के लिए अलग-अलग ढंग की भाषा होगी। नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भाँति के प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामञ्जस्य एक ही बात से होगा—मनुष्य का हित।

भारत के हजारों गाँवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई यह जनता ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है। उसका कल्याण ही साध्य है, बाकी सब कुछ साधन है, संस्कृत भी और फारसी भी, व्याकरण भी और छन्द भी, साहित्य भी और विज्ञान भी, धर्म भी और ईमान भी। हमारे समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य यही मनुष्य है। उसको वर्त्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य मे आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते हैं। सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है। नारद ने शुकदेव से कहा था कि सत्य बोलना अच्छा है, पर हित बोलना और अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है जो भूतमात्र के आत्यन्तिक कल्याण का हेतु हो।

यही सर्वमत का आत्यन्तिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य

हैं। जो साहित्य केवल कल्पना विलास है, जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है, वह बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है जो मनुष्य को आहार, निद्रा आदि पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, इसे पाना ही कम तप का फल नहीं है; पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।

इधर कुछ ऐसी हवा बही है कि हर सस्ती चीज को साहित्य का वाहन माना जाने लगा है। इस प्रवृत्ति को 'वास्तविकता' के गलत नाम से पुकारा जाने लगा है। तरह-तरह की दलीलें देकर यह बताने का प्रयत्न किया जा रहा है कि मनुष्य की लालसोन्मुख वृत्तियाँ ही साहित्य के उपयुक्त वाहन हैं। मुझे किसी मनोराग के विपक्ष में या पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं। जिस बात के कहने से मनुष्य पशुसामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता वह त्याज्य है। मैं उसी को सस्ती चीज कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिये किसी प्रकार के संयम या तप की जरूरत नहीं होती। धूल में लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नहीं होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि यदि कोई निःसंकोच धूल में लोट पड़े तो इसे हम बहुत पुरुषार्थ नहीं कह सकते। हम इस बात को डरने योग्य भी नहीं मानेंगे, परन्तु यदि दस-पाँच भले आदमी ऊँचे गले से यही कहना शुरू कर दें कि धूल में लोटना ही उस्तादी है तो थोड़ा डरना आवश्यक ही हो जाता है। भय का कारण इसका सस्तापन है। मनुष्य में बहुत सी आदिम मनोवृत्तियाँ हैं जो जरा-सा सहारा पाते ही झन-झना उठती हैं। अगर उनको ही साहित्य साधना का बड़ा आदर्श कहा

जाने लगे तो उसे मानने और पालन करने वालों की कमी नहीं रहेगी। ऐसी बातों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है, मानों यह कोई साहस और वीरता का काम है।

पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जाते हैं। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नहीं है। आदिम युग में मनुष्य की जो वृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल थीं, वे निश्चय ही अब भी हैं और प्रबल भी हैं; परन्तु मनुष्य अपनी तपस्या से उनको सुन्दर बना सका है। मनुष्य के रंगमंच पर आने के पहले प्रकृति लुढ़कती-लुढ़कती चली आ रही थी। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववर्ती कार्य का परिणाम है। संसार की कार्य कारण परम्परा में कहीं भी फाँक नहीं थी। जो वस्तु जैसी होने को है, वह वैसी होगी। इसी समय मनुष्य आया। उसने इसी नीरन्ध्र ठोस कार्य-कारण परम्परा में एक फाँक का आविष्कार किया। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने से उसने इन्कार कर दिया। उसे उसने अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। सो मनुष्य की पूर्ववर्ती सृष्टि किसी प्रकार बनती जा रही थी, मनुष्य ने उसे अपने अनुकूल बनाना चाहा। यहीं मनुष्य पशु से अलग हो गया। वह पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा। बार-बार उसे उसी धरातल की ओर उन्मुख करना प्रगति नहीं, यह पीछे लौटने का काम है। मैं मानता हूँ कि कभी ऐसा समय नहीं रहा है जब लालसा को उत्तेजन देनेवाला साहित्य न लिखा गया हो; परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य सामूहिक रूप से इस गलती को महसूस करेगा और त्याग देगा। यह ठीक है कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, पर यह और भी ठीक है कि मनुष्य बराबर गलतियों पर विजय पाता आया है। लालसा को उत्तेजन देने-वाला साहित्य उसकी गलती है। एक-न-एक दिन वह इन पर अवश्य विजय पाएगा।

सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसके साथ समझौता नहीं हो सकता। साहित्य के चरम सत्य को पाने के लिए भी उसका पूरा-पूरा मूल्य चुकाना ही समीचीन है। जो लोग पद-पद पर सहज और सीधे साधनों की बुराई किया करते हैं; वे शायद किसी बड़े लक्ष्य की बात नहीं सोचते। मनुष्य को उसके उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वृत्तियों के साथ सुलह करने से काम नहीं चलेगा। कठोर संयम और त्याग द्वारा ही उसे बड़ा बनाया जा सकेगा। जो बात एक क्षेत्र में सत्य है वह सभी क्षेत्रों में सत्य है—साहित्य मे, भाषा में, आचार मे, विचार मे सर्वत्र। भाषा को ही लीजिए। मनुष्य अपने आहार और निद्रा के साधनों को जुटाने के लिए जिस भाषा का व्यवहार करता है, वह उसकी अनायासलब्ध भाषा है; परन्तु यदि उसे इस धरातल से ऊपर उठाना है तो उतने से काम नहीं चलेगा। सहज भाषा आवश्यक है। पर सहज भाषा का मतलब है सहज ही महान् बनाने वाली भाषा, रास्ते में बटोर कर संग्रह की हुई भाषा नहीं।

सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का आदर्श नहीं स्थिर किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा जिसे संक्षेप मे मनुष्यता कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है।

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे यह सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोषों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात

पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली थी, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने क्षमता थी। शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नहीं मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर महामहज को समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने नि.शेष भाव से दे नहीं सका वह दाता नहीं हो सकता। आप में अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी फिर उसमे देने योग्य पदार्थ भरे जायेंगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो। इसके लिए तप की जरूरत है, अपने को नि:शेष भाव से दान कर देने की जरूरत है।

हिन्दी साधारण जनता की भाषा है। जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह अपने को जनता के काम की चीज बनाए रहेगी, जनचित्त मे आत्म-बल का संचार करती रहेगी, तब तक उसे किसी से डर नहीं है। वह अपने आप की भीतरी अपराजेय शक्ति के बल पर बड़ी हुई है, लोक-सेवा के महान् व्रत के कारण बड़ी हुई है और यदि अपनी मूल शक्ति के स्रोत को भूल नहीं गई, तो नि:सन्देह अधिकाधिक शक्तिशाली होती जायगी। उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। वह विरोधों और संघर्षों के बीच ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालनेकी कोशिश की गई थी, पर वह मरी नहीं है, क्योंकि उनकी जीवनी शक्ति का अक्षय स्रोत जनचित्त है। वह किसी राजशक्ति की उँगली पकड़ कर यात्रा तै करने वाली भाषा नहीं है, अपने आपकी भीतरी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन पर अधिकार करने वाली अद्वितीय भाषा है।

शायद ही संसार में ऐसी कोई भाषा हो जिनकी उन्नति में पद-दद पर इतनी बाधा पहुँचाई गई हो और फिर भी जो इस प्रकार अपार शक्ति सञ्चय कर सकी हो। आज वह सैकड़ों 'प्लेटफार्मों' से, कोड़ियों

विद्यालयों से और दर्जनों प्रेसों से नित्य मुखरित होने वाली परम शक्ति-शालिनी भाषा है, उसकी जड़ें जनता के हृदय में हैं। वह करोड़ों नर-नारियों की आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है। हिन्दी-सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है। इसका अवसर मिलना सौभाग्य की बात है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

शब्दार्थ एवं टिप्पणियाँ

——:o:——

सत्य हरिश्चन्द्र

पुरीन की नासिका = नगरियों की नाक, अर्थात् नगरियों में सर्वश्रेष्ठ। देवनदी बर बारि बिलासिका = गंगा के पवित्र जल में विलास करनेवाली। पाप खसी हेतु असी = पाप को नष्ट करने के लिए तलवार जैसी। लसी = सुशोभित। फबै = सुशोभित होती है। दरयो = दलन किया। अनंग के शत्रु करे = कामदेव का शत्रु बना देती हैं, अर्थात् शिव का स्वरूप दे देती है। गिरिधारन धारन धारन में = प्रत्येक धारा में कितने ही गिरिधर अर्थात् श्रीकृष्ण बना दिये। हरिपद-नख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस = विष्णु-चरण के नख रूपी चन्द्रकान्त मणि से द्रवित अर्थात् पिघलकर निकली हुई अमृत रस रूपी गंगा। ऐरावत-गज = इन्द्र का हाथी। हिमनग = हिमालय पर्वत। साका = प्रसिद्धि। जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत = मानो दो कमल मिलकर स्वच्छ मोतियों के गुच्छे निकाल रहे हैं। वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत = मानों समुद्र के नाते से कमल चन्द्रमा का कलंक मिटा रहा है। तात्पर्य यह है कि कमल भी जल से उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा भी समुद्र से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कमल के साथ चन्द्रमा का भाई का रिश्ता हुआ। कमल इसीलिए चन्द्रमा का कलंक पोंछता है। यहाँ सुन्दरियों के हाथ को कमल और मुख को चन्द्रमा बताया गया है।

श्लोक—अशनं............वाहिनी।

जिनका भोजन, वस्त्र और वास अनियमित हो, उनके लिए काशी मगध के समान है, और गंगा भी अंगार वहन करनेवाली होती है।

आर्यपुत्र = इस सम्बोधन को स्त्रियाँ पति के लिए प्रयोग करती हैं। पुराने जमाने में स्त्रियाँ श्वसुर को 'आर्य' कहती थीं; इसीलिए पति को 'आर्यपुत्र' अर्थात् श्वसुर का पुत्र कहती थीं। प्रशस्त वक्षःस्थल = चौड़ी छाती। आराधना = उपासना, भक्ति, पूजा। सुहृद-भाव = मित्र-भाव।

श्लोक—धिक्..............दशाम्।

हे ब्रह्मन्, धिक्कार है तुम्हारे तप को, धिक्कार है तुम्हारे इस व्रत को, धिक्कार है तुम्हारे ज्ञान को और धिक्कार है तुम्हारे शास्त्र ज्ञान को, जो तुमने हरिश्चन्द्र की यह दशा कर दी।

दारुण व्यसन = कठिन विपत्ति। स्वयं दासास्तपस्विनः = तपस्वी लोग अपने दास स्वयं ही होते है। किसी दूसरे की सेवा की उन्हे जरूरत नहीं होती।

चन्द्रोदय

रक्तमय = लाल-लाल। चेहरा तमतमा गया = क्रोध से मुख लाल हो गया। कामरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण = स्वेच्छारूपधारी कर्मकाण्डी ब्राह्मण। सुमेरु = माला के बीच का बड़ा दाना। अनंग भुजंग = कामरूपी सर्प। सन्ध्या नारी = साँझ रूपी स्त्री।

शिवमूर्ति

अकथ्य = न कहने लायक। अप्रतर्क्य = अकल्पनीय, अचिन्त्य = समझ बूझ में न आने लायक। मृत्तिका = मिट्टी। त्रिगुणातीत = सत, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे। सृष्टि-कर्तृत्व = विश्व बनाने की शक्ति। अचिन्त्य = चिन्तनीयता का अभाव। अप्रतिमत्व = उपमेयता या प्रतिमेयता का अभाव। दिग्दर्शन् = संकेत मात्र, संक्षेपतः प्रकटन मात्र। निशा-नायिका = रातरूपी रमणी। नखक्षत = नाखून के निशान। आरसी = आईना। लिलार = माथा। अटा = अटारी, कोठा। कुईं = कुमुदिनी।

चपातमस्कांड = रात का घोर अन्धकार। अधिष्ठात्री = स्वामिनी, मालकिन। पुण्डरीक = कमल। दिगंगना = दिशारूपी नारी। निशियोगिनी = रात्रिकी योगिनी। बुक्का = अबीर।

कवि और कविता

माद्दा = शक्ति। इस्तेदाद = प्रतिभा। पस्तहिम्मती = साहस का अभाव। गदर = विद्रोह। प्रभावोत्पादक रीति = असर पैदा करने का तरीका। परिमित = कम। नुक्ताचीनी = समालोचना। हस्तामलकवत् = हथेली मे पड़े आंवले की तरह।

गोस्वामी तुलसीदासजी

कीर्ति-श्री = विकासमान यश। अनुसन्धान = खोज। बाह्य-साक्ष्य = बाहरी गवाही। उदात्त = श्रेष्ठ, व्यापक।

आत्माराम

अपशब्द = बुरे शब्द, गाली। द्रुतगामिता = तेज चाल। अन्तःप्रेरणा = कार्य करने को भीतरी इच्छा। अकस्मात् = एकाएक। अनुरागमय = प्रेमपूर्ण।

आचरण की सभ्यता

राजत्व = राजका अधिकार। ज्योतिष्मती = चमकीली, प्रकाशपूर्ण। मौन राग = ध्वनिरहित संगीत, आनन्दपूर्ण संकेत। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौत व्याख्यान है, नम्रता, दया, प्रेम और उदारता से ही सभ्य आचरण प्रकट होता है। उन्मदिष्णु = उन्मादी, दीवाना। निष्काम = कामना रहित। आपन्न जनों = दुखी लोगों। ईश्वरी औदार्य = ईश्वरी उदारता। मौन व्याख्यान = जो बिना जबान से कहे ही प्रकट हो जाय। धर्म के गूढ़ तत्व = धर्म के अन्दर छिपी मानव-कल्याण की भावना।

उत्साह

प्रयत्नवान् = कोशिश करनेवाला। उत्कर्ष = ऊँचाई, विकास। स्फुरित = विकसित। उच्चाशय = ऊँचा मनोभाव। विजेतव्य = विजय प्राप्त करने योग्य, लायक। निवारण = बचाव। फलासक्त = फल-प्राप्ति की इच्छा में लिप्त। कर्मरुचि-शून्य = जिसमें काम करने की रुचि नहीं है, निकम्मा। लाघव = तेजी, शीघ्रता, फुर्ती। लोकोपकारी = संसार का भला करने वाला। सलाम-साधक = खुशामदी।

नाटक

तात्पर्य = मतलब। अलौकिक = इन्द्रियातीत। पार्थिव = भौतिक, सांसारिक।

मध्यप्रदेशीय संस्कृति और साहित्य

अतीत = गत, गुजरा हुआ। प्रागैतिहासिक = इतिहास सिद्ध काल से पूर्व का। आप्लावित = तर, सराबोर।

रामा

विविधताभरी = बहुत रङ्ग की चीजों से भरपूर, वैचित्र्यपूर्ण। विग्रह = लड़ाई। अक्षयकोश = न चुकने वाला खजाना। आगन्तुक = आनेवाला। अभेद्य = जिसे भेदा न जा सके, जिसे काटा न जा सके।

पृथ्वी का इतिहास

सौरमण्डल = सूर्य और उसके चारों ओर घूमनेवाले ग्रह। नीहारिका = अतिसूक्ष्म द्रव्य से बना हुआ आकाश-लोक का आदिम पदार्थ। भौगोलिक इतिहास = धरती के भीतर का इतिहास। रश्मिशक्तित्व = पदार्थों के अन्दर से स्वतः किरणों के निकलने का गुण, जैसे रेडियम में।

मैगनीशियम = धातुविशेष । क्वार्टज = बिल्लौरी पत्थर ।

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

परमुखापेक्षिता = दूसरों का भरोसा लेना। तेजोदीप्त = तेजमय, तेज-पूर्ण। अनुचरवाहिनी = नौकरों की सेना। जातिभेद = विभिन्न जातियों का आपसी भेद। शतच्छिद्रकलश = सैकड़ों छेदों से युक्त घड़ा। प्रयास = कोशिश। घोर व्यवधान = बहुत बड़ा फरक। संस्कृतबहुल भाषा = ऐसी भाषा जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। लक्ष्यीभूत श्रोता = जिसे सुनाने के लिए बात कही जाय। वास्तविकता = असलियत। द्राक्षा = अंगूर, दाख। निःशेष भाव से दान = सम्पूर्ण रूप से दान। अपराजेय = जो पराजित न हो सके। कोड़ियों = बीसियों।